# बहुवचन

साहित्य भाषा शोध और विचार का
हिन्दी त्रैमासिक

**महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय का प्रकाशन**

प्रधान सम्पादक
अशोक वाजपेयी

सम्पादक
पीयूष दईया

नन्द किशोर आचार्य

# रूप : साहित्य की ज्ञानमीमांसा

साहित्य यथार्थ, सत्य अथवा तत्त्व के अन्वेषण और इसीलिए मूल्यान्वेषण की भी एक विशिष्ट, स्वायत्त और वैध प्रक्रिया है। पश्चिम में साहित्य की इस प्रकृति और वृत्ति की पहचान बहुत विलम्ब से हो सकी बल्कि आधुनिक दौर में ही सम्भव हो सकने के कारण प्रारम्भ से ही *'फिलॉसफि'* के साथ उसका रिश्ता लगभग विरोध की हद तक तनावपूर्ण रहा। एकमात्र तर्कबुद्धि को ही प्रामाणिक मानने के कारण फिलॉसफि साहित्य को हेय समझती रही। लेकिन भारतीय परम्परा में *'दर्शन'* और साहित्य के बीच कभी कोई तनाव नहीं देखा गया। साहित्य द्वारा किए गये तत्त्वान्वेषण और मूल्यान्वेषण का दर्ज़ा न केवल दर्शन के समकक्ष बल्कि व्यवहारतः उस से अधिक प्रभावी भी रहा। *'दृश् '* धातु से उत्पत्ति की वज़ह से *'दर्शन'* विचार से कुछ अधिक है — इसमें *'देखने'* अर्थात् साक्षात्कार पर आग्रह है और यह *'देखना'* इन्द्रियजन्य भी हो सकता है और अन्तर्दृष्टि तथा अनुभूतिजन्य भी। ऐन्द्रिय संवेदन तथा प्रत्ययात्मक अनुभूति न केवल एक-दूसरे के विरोध में नहीं है बल्कि ऐन्द्रिक संवेदन प्रत्ययात्मक अनुभूति का माध्यम भी हो सकता है और उस की अभिव्यक्ति भी। साहित्य देखने का एक विशिष्ट प्रकार है, भारतीय परम्परा में इस की पहचान प्रारम्भ से ही मिल जाती है। वैदिक परम्परा में ऋषि सत्य का साक्षात्कार या दर्शन करता है — सत्य उस के सम्मुख *'उद् घाटित'* होता है और इस *'उद् घाटन'* का वर्णन काव्य है। इसीलिए भट्टतौत मानते हैं कि ऋषि ही कवि हो सकता है, लेकिन वास्तव में देखा जाये तो कवि के पास एक अतिरिक्त प्रतिभा भी है — वह केवल *'दर्शन'* ही नहीं करता *'वर्णन'* भी करता है, और वह भी रमणीय वर्णन। *'वर्णन'* की यह प्रतिभा कवि का शिल्प है। इसी बात को *रघुवीर सहाय* दूसरी तरह से कहते हैं: *मेरे पास एक तरह की एक और—एक अतिरिक्त—चेतना है, एक अतिरिक्त व्यथा है जिससे कि मैं हर चीज़ को फिर से उलट-पुलट कर नये ढंग से सजा कर, नये ढंग से दुरुस्त करके और नया बना देने की इच्छा रखता हूँ। तो वही तो शिल्प है। और मैं यह मानता हूँ कि जितनी देर तक मुझे अहसास है कि यह शिल्प आवश्यक — मेरे लिए — उतनी देर तो मैं लेखक हूँ, और बाकी जगहों पर मैं लेखक नहीं हूँ — यद्यपि में उतना ही महत्त्वपूर्ण काम कर रहा होऊँगा जितना कि लेखक कर सकता है या लेखक को करना चाहिए।*

यह *'नया कर देने की इच्छा'* कवि को *'देखने'* से आगे *'रचने'* की ओर ले जाती लगती है, किन्तु तात्त्विक स्तर पर तो *'रचना'* भी एक तरह का देखना ही है क्योंकि *'रचने'* के माध्यम से *'देखने'* का एक नया ढंग ही तो रचा जाता है। भट्टतौत जहाँ यह मानते हैं कि दर्शन का कार्य बाह्य यथार्थ के भीतरी स्वरूप को जान लेना है, वहीं ऋग्वेद में वाणी को यथार्थ का नये रूप प्रकट करने वाली बताया गया है। यह भाषा की अन्तर्निहित सृजनात्मकता का स्वीकार है। इसका निहितार्थ यह है कि भाषा न केवल यथार्थ, सत्य अथवा तत्त्व का वर्णन करती है, वह उसके नये-नये रूपों को रचती भी है। कह सकते है कि साहित्य प्रस्तुत यथार्थ का विश्लेषण मात्र नहीं करता बल्कि वह उसमें अन्तर्निहित उसी के नये रूपों का दर्शन और प्रकाशन भी करता है। इसलिए साहित्य को *'फिलॉसफि'* का *'भावनात्मक समकक्ष'* मानना उसकी दार्शनिक



स्वायत्तता को कम कर देना है। साहित्य की अपनी प्रक्रिया से बरामद यथार्थ और मूल्यों की कसौटी को *'फिलॉसफि'* या किसी अन्य विधा को नहीं बनाया जा सकता। फिलॉसफि, विज्ञान या अन्य किसी शास्त्र से बरामद सत्य अथवा तत्त्व को प्रामाणिक मानते हुए साहित्य से उसके *'भावात्मक समकक्ष'* की माँग करना साहित्य की अपनी प्रक्रिया की वैधता पर सन्देह करना है। *'फिलॉसफि'* सभी विधाओं के बीच एक समन्वय-सूत्र या सामंजस्य की तलाश तो करती है — बल्कि यह उस का एक कार्य भी है — लेकिन किसी एक प्रक्रिया को दूसरी पर तरजीह देना सामंजस्य की मूल भावना पर ही आघात करना है।

लेकिन साहित्य यदि तत्त्वान्वेषण और मूल्यान्वेषण की एक स्वायत्त दर्शन-प्रक्रिया है तो इस प्रक्रिया और उसके साधनों के सवाल पर भी विचार आवश्यक है। किसी भी दर्शन-प्रक्रिया का प्रयोजन तत्त्वान्वेषण और उस से निःसृत मूल्यान्वेषण होता है और इसलिए साहित्य में भी तत्त्वानुभूति और मूल्यानुभूति को खारिज़ नहीं किया जा सकता; लेकिन, तत्त्वमीमांसा भी तो अन्ततः ज्ञान के सिद्धान्त अर्थात् ज्ञान की मीमांसा पर निर्भर करती है। आधुनिक युग में ज्ञान की मीमांसा का सवाल केन्द्रीय महत्त्व का हो गया है। तत्त्व की पहचान न केवल ज्ञान की प्रक्रिया और साधनों के माध्यम से सम्भव है बल्कि उनसे बाधित भी है। ज्ञान की प्रक्रिया और साधन तत्त्व के ज्ञेय स्वरूप का प्रकाशन ही नहीं उस का निर्धारण बल्कि रूपायन भी सम्भव करते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञान ज्ञान की प्रक्रिया और साधनों से प्रतिविशिष्ट है। यदि हम यह मानते हैं कि उत्पादन के उपकरण और साधन अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया न केवल उत्पादन की गुणवत्ता और उसकी मात्रा को बल्कि उत्पादन-सम्बन्धों अर्थात् पूरी समाज-व्यवस्था को निर्धारित करती हैं तो यह स्वयंसिद्ध है कि ज्ञान की प्रक्रिया उसके माध्यम से बरामद ज्ञान को प्रभावित करेगी।

प्रक्रिया के इस बढ़ते महत्त्व के कारण ही दर्शन में ज्ञानमीमांसा का महत्त्व बढ़ता गया है — बल्कि यहाँ तक माना जाने लगा है कि ज्ञानमीमांसा ही वास्तविक दर्शन है क्योंकि अंततः तत्त्व और मूल्यों का अन्वेषण ही नहीं, उनका निर्धारण तक उसी पर निर्भर है। *कालिंगवुड* तो दर्शन तो पारिभाषित करते हुए उसे *'चिन्तन या विचार प्रक्रिया के बारे में चिन्तन'* ही मानते हैं अर्थात् अपनी प्रक्रिया के बारे में चिन्तन ही दर्शन का विषय है। लेकिन जो लोग दर्शन को मनुष्य, जीवन अथवा किसी पराभौतिक तत्त्व आदि के बारे में चिन्तन मानते है, वे भी उसकी प्रक्रिया के निर्धारक महत्त्व की अनदेखी नहीं कर सकते। यह बात सिर्फ़ विचार की अमूर्त प्रक्रिया पर ही नहीं, ठोस जगत से सम्बद्ध विज्ञान की मूर्त प्रक्रियाओं पर भी पूरी तरह लागू होती है। *हाइज़ेनबर्ग* प्रतिपादित करते हैं कि यथार्थ का का ज्ञान सम्भव ही नहीं हैं क्योंकि हम उसे उतना और वैसा ही जान पाते है जितना और जैसा हमारा माध्यम-यंत्र हमें बताता है। माध्यम का बीच में होना यथार्थ के हमारे ग्रहण के स्वरूप को निर्धारित करता है। भौतिकी के इस निष्कर्ष के अनुरूप ही *विटगेंस्टाइन* का यह मत है कि हमारी भाषा की संरचना यथार्थ की हमारी संरचना का निर्धारण करती है। अपने पहले ग्रन्थ *'ट्रेक्टेटस'* में विटगेंस्टाइन की मान्यता थी कि यथार्थ की संरचना हमारी भाषा की संरचना को प्रभावित करती है, लेकिन अपने दूसरे ग्रन्थ *'फिलॉसाफिकल इनवेस्टिगेशन्स'* में इस मान्यता को उलटते हुए उनका निष्कर्ष था कि हमारी भाषा यथार्थ के प्रति हमारी दृष्टि या बोध को निर्धारित करती है क्योंकि हम उसके माध्यम से ही यथार्थ को पहचानते है। ज्ञानमीमांसा किसी भी दर्शन प्रक्रिया की विशिष्ट शक्ति और सम्भावना भी है और सीमा भी। *कालिंगवुड* दर्शन की जो व्याख्या करते हैं कि—*'वह चिन्तन या विचार-प्रक्रिया के बारे में चिन्तन है'* क्या वह वाक् के बारे में इस *बृहदारण्यक* के कथन से मेल नहीं खाता कि *'यहाँ जो कुछ भी जाना जाता है, सब वाक् का रूप है, वाक् ही जानने वाली भी है तथा वही विभिन्न पदार्थों के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।'* नोवालिस भाषा को आत्मालाप मानते है क्योंकि

उसकी विचित्र-विशेषता यह है कि वह केवल अपने ही से सम्बोधित है।

एक विशिष्ट दर्शन-प्रक्रिया होने के कारण साहित्य में भी जानने की प्रक्रिया या ज्ञानमीमांसा का महत्त्व केन्द्रीय है। साहित्य का महत्त्व उसकी प्रक्रिया में है, उसके निष्कर्षों में नहीं। यह प्रक्रिया रूपानुभूति की प्रक्रिया है। साहित्य जिस यथार्थ अथवा तत्त्व का अन्वेषण करता है वह एक रूप की हैसियत में प्रकट होता है। भाषा में रूप का प्रकाशन ही साहित्य है। रूप यथार्थ या तत्त्व की अनुभूति या दर्शन का माध्यम भी है और उसके वर्णन, सम्प्रेषण अथवा अभिव्यक्ति का भी। साहित्य में व्यक्त यथार्थ का उसके रूप से अलग अस्तित्त्व नहीं है। इसलिए रूप साहित्य की ज्ञानमीमांसा तो है ही, वह एक सीमा तक उसकी तत्त्वमीमांसा और मूल्यमीमांसा भी है — क्योंकि ज्ञान की प्रक्रिया ही अन्ततः तत्त्व का स्वरूप निर्धारण और मूल्यव्यंजना सम्भव करती है।

यहाँ *'रूप'* की कुछ व्याख्या ज़रूरी है क्योंकि अधिकांशतः उसे बहुत ही स्थूल स्तर पर समझा जाता है। पॉल वैलेरी मानते है कि लेखक का दर्शन *'सोच के विषयों में नहीं, बल्कि स्वयं सोच की प्रक्रिया या उसके व्यवहार में निहित होता है।' 'सोच की प्रक्रिया और व्यवहार'* — रूप की इससे बेहतर परिभाषा सम्भव नहीं है। हम चाहें तो रूप को लेखक के *'देखने की प्रक्रिया और व्यवहार'* कह सकते है क्योंकि साहित्य और इसलिए कोई भी साहित्यिक कृति — सर्वप्रथम देखने का अर्थात् अनुभव करने का एक ढंग है। किसी भी अनुभव का वैविध्य अनुभव करने के इस ढंग में निहित है। यथार्थ का जो रूप किसी कृति में प्रकाशित होता है, वह अनुभव करने के, देखने के ढंग से प्रतिविशिष्ट है। भाषा की भंगिमाएँ, शब्द प्रयोग, मुहावरा, छन्द-लय, लहज़ा, चरित्र, घटनाओं की क्रमिकता और उनका अन्तर-सम्बन्ध आदि सभी इस ढंग को उभारने के उपादान हैं, वे अपने में *'रूप'* नहीं हैं। साहित्यकार दर्शन ही नहीं करता वर्णन भी करता है — लेकिन हम उस वर्णन के माध्यम से ही *'दर्शन'* तक पहुँचते हैं। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि *'वर्णन'* स्वयं में एक *'दर्शन'* है अर्थात् *'वर्णन'* और *'दर्शन'* एकमेल हैं और उन्हें अलग किया जाना सम्भव नहीं है। रूप और अन्तर्वस्तु के एकत्व की बात करते हुए कुछ लोग इस बात पर जोर देते है कि अन्तर्वस्तु अपना रूप प्राप्त कर लेती है, जबकि हाइज़ेनबर्ग का सिद्धान्त बताता है कि रूप ही अन्तर्वस्तु का निर्धारक है, *'वर्णन'* करने का तरीका भर नहीं है बल्कि वह अपने में दर्शन के एक ढंग की अभिव्यक्ति है। रूप अनुभूति का माध्यम नहीं, अनुभूति की प्रक्रिया होने के कारण स्वयं अनुभूति ही है। ऐसा नहीं है कि प्रत्येक साहित्यिक कृति देखने का एक नया ढंग, या एक नये प्रकार की ज्ञानमीमांसा का प्रस्ताव करती है। अधिकांश कृतियाँ देखने के प्रचलित ढंग को ही अपनाकर उस के माध्यम से हमें अपने परिचित यथार्थ से ही रू-ब-रू करवाती रहती हैं। कभी-कभी वे प्रचलित ढंग से किसी नये सन्दर्भ या प्रसंग को प्रकाश में ले आते हैं। ऐसी कृत्तियाँ कुछ उल्लेखनीय हो जाती हैं क्योंकि उन्होंने प्रचलित ढंग से ही सही, लेकिन एक नये सन्दर्भ को उजागर किया। लेकिन साहित्य में वास्तविक और दूरगामी महत्त्व उसी कृति का होता है जो देखने या अनुभव करने के एक नये ढंग अर्थात् एक नयी ज्ञानमीमांसा का आविष्कार करती है। ऐसी कृतियों को ही अग्रगामी हैसियत प्राप्त होती है— चाहे उन्हें लोकप्रियता न भी हासिल हो।

साहित्य के इतिहास का अध्ययन करते हुए हम अक्सर उसे कई युगों में विभाजित कर देते हैं। इन युगों की पहचान के लिए हम उन्हें नाम भी देते हैं जो किसी लेखक या उस युग के साहित्यिक वैशिष्ट्य अथवा युग विशेष की केन्द्रीय संवेदना पर आधारित होते हैं। नामकरण किसी भी आधार पर हो, हम पायेंगे कि ऐसे प्रत्येक युग में साहित्यिक ज्ञानमीमांसा के एक अलग रूप का एक केन्द्रीय महत्त्व रहा है और इसलिए



प्रत्येक युग की साहित्यिक भाषा और मुहावरे को सरलता से अलग पहचाना जा सकता है क्योंकि ये साहित्य की ज्ञानमीमांसा में परिवर्तन के सुस्पष्ट बाह्य लक्षण है।

इसलिए किसी भी कृति या कृतिकार के मूल्यांकन की प्राथमिक कसौटी उसकी ज्ञानमीमांसा ही हो सकती है। ज्ञानमीमांसा की मौलिकता ही किसी लेखक की मौलिकता की असली कसौटी है क्योंकि उसके बिना तत्त्वमीमांसीय अथवा मूल्यमीमांसीय मौलिकता सम्भव ही नहीं है।

कृष्ण बलदेव वैद

# कैसे गुज़र रही है ओल्ड एज!

मैं उस पराए शहर की उस अलसायी हुई झील के किनारे खड़ा आकाश की ओर मुँह उठाए खाँस रहा था, जब पीछे से आयी एक अजनबी आवाज़ ने मुझे झुँझला दिया।

—कैसे गुज़र रही है ओल्ड एज!

मेरी खाँसी रुक गयी या शायद मेरी झुँझलाहट में गुम हो गयी लेकिन मेरी आँखें आकाश पर ही टिकी रहीं।

उस आवाज़ में बुढ़ापे के प्रति अवज्ञा का स्वर मुझे इतना अखरा कि यह देखने की ख़्वाहिश भी न हुई कि वह किस फूहड़ मुँह से फूटी थी। इतना मुझे उसके बलग़मी घुलाव से मालूम हो गया था कि उसे उस शाम की साँवली ख़ामोशी में उछाल देने वाला वह अजनबी मेरे ही जैसा कोई बूढ़ा था जिसे शायद अपने जैसे बूढ़ों के एकान्त पर उस प्रश्न का पत्थर मारने का बुरा शौक़ होगा।

मैंने देखा है कि बूढ़ों को तरह-तरह के बुरे शौक होते हैं। मुझे भी हैं।

मेरा ख़याल था कि मेरी बेरुख़ी उसे आगे नहीं बढ़ने देगी लेकिन उस शख़्स ने आगे बढ़ अपना पिलपिला-सा हाथ मेरी पीठ पर यूँ रख दिया जैसे किसी बुढ़िया ने किसी भुरभुरी दीवार पर एक पतला-सा उपला थाप दिया हो। मेरी पीठ झुरझुरायी तो उस शख़्स को हँसी आ गयी। उसकी हँसी में भी मुझे अपने और बुढ़ापे के प्रति अवज्ञा का स्वर सुनायी दिया। जब मैंने गर्दन घुमा कर देखा तो मुझे उसके नकली दाँतों की चुन्धिया देने वाली सफ़ेद चमक नज़र आयी और मैं दो क़दम पीछे हट गया।

मैं अपने जैसे गये बीते बूढ़ों को देख अक्सर दहल जाता हूँ। वैसे अपने से भिन्न गये बीते बूढ़ों को देख कर भी मैं दहलता ही हूँ, उछलता नहीं। उछलना तो ख़ैर अब वैसे भी असम्भव होता जा रहा है। मेरा बस चले तो मेरी निगाह किसी भी तरह के किसी बूढ़े जानवर पर भी न पड़े - बूढ़े जानवरों को देख कर तो मैं और दहल जाता हूँ। लेकिन अजीब बात है कि इस दहशत के बावजूद या कारण अब मुझे अच्छे वही बूढ़े लगते हैं जिन्हें देख मुझे दहशत हो।

सहसा वह झील भी मुझे बूढ़ी नज़र आने लगी। ख़याल आया, काश मैं इस झील में डूब मरने की हिम्मत जुटा पाता। उधर वह यूँ ही मुस्कुरा रहा था जैसे सोच रहा हो, अगर तुम में हिम्मत होती तो तुम इतने गये बीते न होते।

मैं सोच रहा था कि उस अजनबी के जुमले पर झुँझलाने का मुझे कोई हक नहीं था, कि मुझे मालूम होना चाहिए कि बूढ़ों का अकेलापन बेपनाह होता है, इसीलिए वे अक्सर बेमतलब इधर-उधर डोलते रहते हैं— सड़कों पर, गलियों मे, अपने पड़ोस की दुकानों के इर्द-गिर्द, छाबड़ी वालों के आसपास, पार्कों और



खण्डहरों में, मन्दिरों और मस्जिदों की सीढ़ियों पर, झीलों के किनारे, कहीं भी। मैं सोच रहा था कि जो बूढ़े चुप मार कर अपने-अपने घरों में पड़े रहते हैं वे असली बूढ़े नहीं होते कि असली बूढ़ों को अपना घर अपना नज़र नहीं आता, अपना असली घर नजर नहीं आता, कि असली बूढ़े वहीं होते हैं जो बेघर हो जाएँ, बेघर महसूस करने लगें, घर की तलाश में, असली घर की तलाश में, इधर-उधर डोलते-भटकते रहें। मैं सोच रहा था कि एक हद के बाद सोचने से कुछ नहीं होता, कि असली बूढ़े वही होते हैं जो उस हद को पार कर चुके हों, कि मैं खुद अभी उस हद से इधर ही हूँ।

मेरी झुँझलाहट ने अब एक ख़ौफनाक ख़ामोशी का रूप ले लिया था जिसके भीतर से मैं उस अजनबी को भाँप रहा था, उसके भाव को समझने की कोशिश कर रहा था, यह समझने की कोशिश कर रहा था कि वह असली था या नकली, कि उस से जो दहशत मुझे हुयी थी वह असली थी या नकली। उधर वह अपने नकली दाँत यूँ दिखा रहा था जैसे सुझा रहा हो कि मैं भी अपने बचे-खुचे दाँत निकलवा कर वैसे ही नकली दाँत लगवा लूँ। मुझे ख़तरा था कि अगर वह खुद नकली निकला तो मुझे उसकी विपताएँ सुननी पड़ेंगी, उसकी शिकायतों की नुमाइश देखनी पड़ेगी, उसके घाव देखने पड़ेंगे, उसके जीवन-दर्शन को झेलना पड़ेगा। और इस ख़तरे के साथ एक और ख़तरा चिपका हुआ था— उसी तरह जैसे कभी क्या एक कीड़े के साथ एक और कीड़ा चिपका हुआ नज़र आ जाता है— कि अगर मैं सतर्क न रहा तो मैं उसे अपनी विपताओं और लाचारियों और जीवन-दर्शन वग़ैरह का ब्यौरा देना शुरू कर दूँगा। मैं जानता हूँ कि मैं खुद अभी उस हद से इधर ही हूँ जिसे पार कर लेने के बाद ही मैं असली बूढ़ा बन सकूँगा। मैं जानता हूँ कि अपनी सारी सख़्ती और रुखाई के नीचे मैं भी एक मोहताज बूढ़ा ही हूँ - तवज्जोह और सोहबत का भूखा, फूट पड़ने को तैयार, इस भ्रान्ति का शिकार कि किसी से बात करने से जी का बोझ हल्का हो जाता है, कि अपने जैसे किसी मोहताज के साथ कुछ पल बैठ जाने से अपनी मोहताजी को झेलना कुछ आसान हो जाता है।

— मैं राम नारायण हूँ।

मैंने उससे हाथ तो मिला लिया लेकिन अपना नाम नहीं बताया। ख़तरा था जब तक बताऊँगा नहीं वह हाथ नहीं छोड़ेगा। लेकिन ख़तरा ग़लत निकला।

— थोड़ी देर बैठ जाएँ?

उसका स्वर बदल गया था मैं, कह नहीं सकता, मैं चुपचाप बैठ गया। उसके दाँत फिर निकल आए। अब वह मुझे अखरे नहीं, बल्कि पसंद आए, ख़याल आया जब मैं वैसे दाँत लगवा लूँगा तो मैं भी न मुस्कुराता और हँसता हुआ मुस्कराता और हँसता हुआ नज़र आऊँगा।

अब मैं राम नारायण को सीधी आँखों देख रहा था और सोच रहा था कि वह बूढ़ा तो था, बुरा नहीं था, कि भले ही वह मेरा आदर्श बूढ़ा तो नहीं था लेकिन उसमें संभावनाएँ थीं, न होतीं तो मैं उससे दहलता नहीं, सिर्फ़ झुँझलाता। मैं अपने आपको समझा रहा था कि अब मुझे अपने अन्त के आलोक में यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम सब कमोबेश एक से सीमित है, एक से दुखी-सुखी है, एक से उलझे-सुलझे हुए हैं, एक से मूर्ख हैं, और मुझे किसी पर नाक भौं चढ़ाने का कोई अधिकार नहीं।

मन हुआ राम नारायण से मुआफ़ी माँग लूँ, कहूँ, राम नारायण जी, ओल्ड एज ठीक तो नहीं गुज़र रही लेकिन गुज़र रही है, यही ग़नीमत है, आप बताएँ आपकी कैसे गुज़र रही है? लेकिन मैंने ऐसा कुछ किया या कहा नहीं। मेरे उद्‌गार उठते ही फिर बैठ जाते हैं। मैं दूसरों की तो जैसे-तैसे सुन लेता हूँ, अपनी नहीं

सुना पाता। दूसरों की संकोचहीनता पर हैरान भी होता रहता हूँ, उसे सराहता भी रहता हूँ, लेकिन अपने संकोच का कवच उतार नहीं पाता।

राम नारायण की आँखें अब यूँ बन्द थीं जैसे वह अपने नहीं, मेरे भीतर झाँक रहे हों, और कुछ ही देर बाद वह मुझे मेरे भीतरी बीहड़ का हाल सुनाना शुरू कर देंगे। मैंने देखा है कि आँखें बन्द कर लेने पर कुछ बूढ़े बैरागी नज़र आने लगते हैं। मुझे लगा जैसे राम नारायण के भेस में मुझे कोई पहुँचा हुआ पीर दस्तगीर मिल गया हो जो मुझे ओल्ड एज गुज़ारे का गुर सिखा देगा।

कहने को तो मैं नास्तिक हूँ लेकिन हर नास्तिक की तरह किसी ऐसे पथ-प्रदर्शक की तलाश में रहता हूँ जो मुझे मेरी नास्तिकता से मुक्ति दिला दे। अब इस इन्तहा पर मुक्ति की आशा-आकांक्षा उड़ या सूख गयी होनी चाहिए लेकिन मुसीबत, असली मुसीबत, तो शायद यही है कि किसी भी इन्तहा पर कोई भी आशा-आकांक्षा उड़ती या सूखती नहीं। मरते दम तक अधिकतर बूढ़ों की बुझती हुयी आँखों में अगर किसी और का नहीं तो इस आकांक्षा का ही काँटा अटका रहता है कि उनका दम उसीदम न निकले।

राम नारायण के सामने बैठा मैं इन दाग़-दाग़ ख़यालों से खेल ही रहा था कि अचानक उन्होंने आँखें खोल दीं और पूछा : तो कैसे गुज़र रही है ओल्ड एज?

अबकी बार मुझे लगा जैसे वह बुढ़ापे का ही नहीं मेरा मज़ाक भी उड़ा रहे हो, जैसे वह सुझा रहे हो कि बुढ़ापे और बूढ़ों का मज़ाक ही उड़ाया जा सकता है, मुझे निराशा हुयी। मुझे लगा जैसे वह मुझे यह सस्ता-सा उपदेश दे रहे हों कि मैं बुढ़ापे और उसकी दी हुयी दहशतों को गम्भीरता से न लूँ। वैसे तो मैं खुद अपने आपको यही समझाता रहता हूँ लेकिन उनके मुँह से मैं कुछ और सुनना चाहता था, पता नहीं क्या। अब वह फिर मुझे एक ऐसे बेबुनियाद बूढ़े नज़र आए जो मुझे कोई रास्ता नहीं दिखा सकेंगे।

मैं उसी वक़्त उठ कर चल दिया होता लेकिन मेरे जिस्म ने उठने से इन्कार-सा कर दिया कि अब वह बैठते ही बुझ जाता है, बुझा हुआ तो ख़ैर अब वह हर हालत में होता है लेकिन बैठे और लेटे हुए होने पर उसका बुझाव सम्पूर्ण-सा हो जाता है, लगता है जैसे वह मेरे मन से दूर किसी कब्र में जा गिरा हो। कुछ बूढ़ों का मन बुढ़ापे में और चंचल हो जाता है। मैं ऐसे ही बदबख़्त बूढ़ों में से एक हूँ, इसीलिए इतना बेचैन रहता हूँ, इसीलिए मेरी बेचैनी लाइलाज है। तन जड़ होता जा रहा है, मन जवान। तन और मन का यह व्यवधान दिल और दिमाग़ के व्यवधान से कम कष्टदायक नहीं।

राम नारायण मेरी तरफ यूँ देख रहे थे जैसे अपने सवाल का जवाब भी तलब कर रहे हों, और मेरे चेहरे का निरीक्षण भी। अब उनका मुँह इतना बन्द और पिचका हुआ था कि मुझे शक हुआ कि उनके मसनूई दाँत मेरी कल्पना का ही कमाल रहे होंगे। मैंने अब पहली बार उन्हें पूरे ध्यान से देखा। वह एक पतले पके-तपे हुए बूढ़े नज़र आए— कम खाने वाले, न पीने वाले, सुबह शाम सैर करने वाले, आसूदा लेकिन अमीर नहीं, पढ़े-लिखे लेकिन ज़्यादा नहीं, सांसारिक लेकिन एकदम बेईमान नहीं, कुल मिला कर मामूली।

क्योंकि मैं खुद मामूली हूँ इसलिए मामूली बूढ़े मुझे अक्सर पसंद नहीं आते।

जब मैं खुद बूढ़ा होना शुरू नहीं हुआ था तब मुझे आबतादार बूढ़े बहुत प्रभावित किया करते थे —अकड़ कर चलने वाले, छड़ी को अदा से घुमाने वाले, ख़ुशपोश और ख़ुशकिस्मत, ऐसे जिनसे ईर्ष्या हो, जिन्हें देख दुनिया दुखों का घूरा या काग़ज की पुड़िया नज़र न आए और न ही गौतम बुद्ध की याद आए।

जब मैंने बूढ़ा होना शुरू कर दिया तो मुझ पर न जाने कैसे नूर का ख़ब्त सवार हो गया था और मैंने



उन बूढ़ों से प्रभावित होना शुरू कर दिया था जिनकी झुर्रियों से मुझे नूर टपकता नज़र आता था। बूढ़े मर्दों की अपेक्षा बूढ़ी औरतें मुझे अधिक मात्रा और संख्या में नूरानी नज़र आती थी। मन होता था उन्हें क़रीब से निहारूँ, उनकी गोद में अगर नहीं तो उनकी बग़ल में बैठ उनसे नूर के बारे में बातें करूँ, उनसे उनके नूर का राज़ पूछूँ, उनसे कहूँ वह मुझे बूढ़ी नूरानी परियों की कहानियाँ सुनाएँ, नसीहतें दे, तसल्लियाँ दें।

और अब जब मैं बूढ़ा हो चुका हूँ तो मुझे ख़ामोश और ख़ौफनाक बूढ़े ही अच्छे लगते हैं, असली लगते हैं, प्रभावित या आतंकित करते हैं— एज़रा पाउंड जैसे बूढ़े जो अपने आख़िरी बरसों में एक दम ख़ामोश और ख़ौफनाक हो गये हों, ऐसे जिन से असली ख़ौफ आए, वैसा जैसा मौत से आता है या खुदा से या खुदा के न होने के ख़याल से।

राम नारायण ने भाँप लिया होगा कि मैं मन ही मन उठने के लिए तैयार हो रहा था, कि मैं उनसे प्रभावित नहीं हुआ था, कि मैं सिर्फ़ अपने जिस्म की जड़ता के कारण उठ नहीं पा रहा था, इसलिए शायद उन्होंने अचानक बोलना शुरू कर दिया।

—पता नहीं मुझे आजकल हो क्या गया है कि जब कभी सूरज ढलने के बाद यहाँ किसी अजनबी बूढ़े को अकेले घूमता देख लेता हूँ तो मेरे मुँह से अनायास वही सवाल फूट पड़ता है जिसे सुन आप झुँझला उठे थे। आपकी झुँझलाहट वाजिब थी। अगर आप मुड़ कर मुस्कुरा दिये होते तो मुझे निराशा होती, तब मैंने आप से मुआफ़ी माँग ली होती, कह दिया होता पीछे से आप मुझे मेरे कोई परिचित नज़र आए थे। लेकिन आपने जब मुड़ कर मेरी तरफ देखा तक नहीं तो मैंने आगे बढ़ कर अपना हाथ आपकी पीठ पर रख दिया और महसूस किया जैसे उसके नीचे किसी बूढ़े घोड़े की पीठ झुँझला रही हो।

राम नारायण की उपमा ने मुझे चकित कर दिया उनका नाम और रूप देखते हुए मुझे उनसे इस तरह की उपमा की अपेक्षा नहीं थी। मुझे याद करना पड़ा कि बाँके नामों और रूपों वाले कभी-कभी ख़ासे बोदे निकलते हैं, मधुर आवाज़ों वाले कभी-कभी कमसूरत। अब राम नारायण फिर मुझे बारीक और पैने नज़र आने लगे। मैं फिर उनकी बातें सुनने के लिए उत्सुक हो उठा, आशा बाँधने लगा कि उन्हें घर लौटने की उतावली नहीं होगी, कि जब अँधेरा हो जाएगा तो वह मेरे कहने पर मेरे साथ मेरे होटल चल कुछ पीने पर राज़ी हो जाएँगे और फिर वहाँ देर तक वह बुढ़ापे और मौत और मुक्ति के बारे में बोलते रहेंगे। मेरी इस आशा की किसी तह में यह अन्देशा भी छिपा बैठा था कि मुनासिब मिक़दार में पी लेने के बाद मैं भी बोलना शुरू कर दूँगा, उन्हें उखड़े उजड़े अनुभव सुनाना शुरू कर दूँगा। इस अन्देशे को मैंने भीतरी बीहड़ में धकेल दिया।

राम नारायण मुझे यूँ देख रहे थे जैसे मेरे ख़यालों को बूझ रहे हों और इन्तज़ार कर रहे हों कि उनका सिलसिला टूटे तो वह अपनी बात आगे बढ़ाएँ। मैंने अपने ख़यालों के सिलसिले को फ़ौरन तोड़ दिया।

— कैसे गुज़र रही है ओल्ड एज! मेरे इस प्रश्न को सुन कुछ अजनबी बूढ़े आप ही की तरह झुँझला उठते हैं और फिर अपनी झुँझलाहट पर मुस्कुराहट की झिल्ली चढ़ा कर या मुँह बिचका कर और कन्धे बिचका कर चल देते हैं लेकिन कुछ छूटते ही अपनी लाचारियों और शिकायतों का पिटारा खोल उनके बारे में यूँ बोलना शुरू कर देते हैं जैसे उनकी नीलामी कर रहे हों। दोनों प्रतिक्रियाएँ मुझे निराश करती हैं। मैं क्या चाहता हूँ, मैं नहीं जानता। मेरे प्रश्न का असली अभिप्राय क्या होता है, मैं पूरी तरह नहीं जानता। शायद मैं किसी ऐसे अजनबी बूढ़े की तलाश में रहता है जिसके साथ जम कर बुढ़ापे और

मौत और ज़िन्दगी और मुक्ति जैसे बड़े-बड़े सवालों के बारे में बोल सकूँ। अपने मित्र बूढ़ों के साथ ऐसा करना मेरे लिए सम्भव नहीं। जिसे आप जितना अधिक जानते हों उसके साथ बुनियादी बातें करने में उतना ही अधिक संकोच होता है, शर्म आती है, महसूस होता है जैसे आप अपने आप से बतिया रहे हों। अपने आप से बतियाने वालों को लोग पागल कहते हैं। मुझे भी लोग पागल ही कहते हैं, झील वाला पागल! इसीलिए दिन ढलते ही यह झील वीरान हो जाती है। तब यहाँ आपकी तरह बाहर से आया हुआ कोई बूढ़ा अगर मुझे नज़र आ जाता तो मैं अपना सवाल उछाल देता हूँ। यह देखने के लिए कि वह कैसा है, किस कोटि का है। मैं असल में चाहता यह रहता हूँ कि किसी शाम मुझे कोई ऐसा बूढ़ा मिल जाए जो मेरे प्रश्न पर झुँझलाए लेकिन उस पर मुस्कुराहट की झिल्ली न चढ़ाए और न ही मुँह बिचका या कन्धे सुकेड़ कर आगे बढ़ जाए और न ही अपनी लाचारियों और शिकायतों का पिटारा खोल उनकी नीलामी शुरू कर दे, जो मेरे कहने पर मेरे साथ बैठ मेरे बारे में अनुमान लगाता रहे और मुझे सुनता रहे, जो कुछ देर बाद मुझे इतना ख़ामोश और ख़ौफनाक नज़र आए कि मुझे ऐज़रा पाउंड याद आ जाए, जिससे मुझे असली ख़ौफ आए, वैसा जैसे मौत से आता है या खुदा से या खुदा के न होने की सम्भावना से- मुझे लगता है कि आज मेरी यह ख़्वाहिश पूरी हो गयी है, अब मुझे एक असली बूढ़े का दीदार...

राम नारायण की बात को बीच में ही छोड़ मैंने न जाने किस दैवी प्रेरणा से बल बटोरा और उठ कर अपने होटल की तरफ़ भागना शुरू कर दिया।



# लेखक और लम्बा आदमी

एक इतना लम्बा आदमी मुझ से हाथ मिला रहा था कि उसकी आँख से आँख मिलाने की कोशिश में मुझे अपना सर बहुत पीछे फेंकना पड़ा था— अगर मेरे सर पर टोपी या पगड़ी होती तो मुझे उसे थामना पड़ता।

वह आदमी हाथ तो मुझ से मिला रहा, बात किसी और से कर रहा था जो क़द में उसके बराबर था, इसीलिए मैं उसकी आँख को अपनी आँख से पकड़ नहीं पाया।

मेरे मन में ख़याल आया कि इतने ऊँचे कद का एक फ़ायदा यह होता होगा कि आप हाथ एक आदमी से मिलाएँ, आँख दूसरे से, और चाहे तो बात तीसरे से करें। फिर इस ख़याल में मुझे इतनी ख़ामियाँ नज़र आयीं कि मुझे शर्म आने लगी। इधर शर्म मुझे कुछ ज़्यादा ही आने लगी है। पहले तो सिर्फ़ अपनी हरकतों और बातों पर ही आया करती थी, अब ख़यालों पर भी आती रहती है।

मैंने अपना हाथ छुड़ाना चाहा तो उसके बड़े-से हाथ ने मेरे छोटे-से हाथ को यूँ जकड़ लिया जैसे कोई बड़ी मछली किसी छोटी मछली को निगल जाने से पहले पूछ रही हो, अच्छी तो हो? मैंने कुछ ज़ोर लगा कर अपना हाथ खींच लिया लेकिन उसका हाथ फिर भी यूँ खुला-फैला रहा जैसे किसी बहुत लम्बे नेता के बुत का फ़ौलादी पंजा हो।

मैं वहाँ से हिलने और अपने ही क़द के किसी इन्सान के पास जा खड़ा होने के लिए बेताब हो ही रहा था कि उसकी आवाज़ ऊपर से उतरती हुयी आयी।

— सर, आप कैसे हैं?

आवाज़ में किसी पुराने परिचय की पिचकी हुई आहट तो थी लेकिन मैं उस आदमी की सूरत से उसकी तस्दीक़ करने के लिए अपना सर पीछे फेंक कर अपनी गर्दन में एक और बल नहीं डालना चाहता था, इसलिए मैं ख़ामोश रहा। ख़ामोश शायद मैं इसलिए भी रहा कि मुझे ठीक मालूम नहीं था कि वह सवाल उसने मुझ से ही पूछा था या किसी और से। मैं बोला तो नहीं लेकिन वहाँ से हिला भी नहीं क्योंकि मुझे ख़तरा था कि अगर उसका सवाल मेरे लिए था तो वह मुझे हिलने नहीं देगा।

— सर, मैं आप ही से पूछ रहा हूँ, आप कैसे हैं?

अबकी बार उसने मेरे कन्धे पर एक थपकी-सी भी दे डाली थी, जिससे मैं एकाध इंच और दब गया था। अब उसकी तरफ़ देखना मुझे अनिवार्य प्रतीत हुआ। मैंने देखा कि उसका सर मेरी तरफ़ झुका हुआ था, उसके होंठ उसके दाँतों पर से हटे हुए थे, उसके दाँतों की लम्बाई किसी नवजात शिशु के अँगूठों जितनी थी, उसकी आँखें उसी नवजात शिशु की आँखों की तरह क़रीब-क़रीब बन्द।

जब उसने देखा कि मैं कुछ कहने के बजाए उसके चेहरे की चीर-फाड़ में जा डूबा हूँ तो उसने अपना मुँह बन्द कर लिया और मुझे लगा वह ख़फ़ा हो गया था।

— सर, आपने मुझे पहचाना नहीं, आप किसी ज़माने में मेरे प्रोफेसर हुआ करते थे।

उसकी इस बात पर भी जब मेरे होंठ नहीं खुले तो उसकी बाँछें खिल उठीं।

— सर, उस ज़माने में भी आप बहुत चुप्पा हुआ करते थे, मुझ से बहुत डरते थे, मेरे सामने आपका मुँह नहीं खुलता था, हालाँकि मैं आपकी बहुत इज़्ज़त किया करता था, इसीलिए मुझे आप पर बहुत गुस्सा आया करता था, क्योंकि अगर एक बार भी आपने कड़क कर मुझे डपट दिया होता तो मेरी जिन अदाओं से आपको डर लगता था वह सब बदल गयी होतीं, लेकिन मैं देख रहा हूँ कि इतने बरसों और इतना कुछ लिख-विख लेने के बाद भी आपका डर दूर नहीं हुआ। क़द को न जाने आप क्यों इतनी अहमियत देते हैं, इन्कार मत कीजिए, अगर ऐसा न होता तो मैं आपको इतना ऊँचा-लम्बा दिखायी न देता जितना कि मैं दरअसल हूँ नहीं और न ही आप अपने को इतना नीचा- ठिगना समझते जितने कि दरअसल आप हैं नहीं। सर, आप मानें न मानें, आपकी हालत से मुझे दुख हो रहा है, मैंने कभी कल्पना नहीं की थी कि आप मारे डर के मुझे पहचानेंगे भी नहीं। ख़ैर, मैं आपको खरौचना नहीं चाहता, बल्कि मैं तो आपका शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ।

शायद वह अपेक्षा कर रहा था कि मैं पूछूँगा शुक्रिया किस बात के लिए, लेकिन मैं उस ज़माने की धुन्ध में गुम हो गया था जिसमें मैं बक़ौल उसके उतना ही दब्बू हुआ करता था जितना अब हूँ, और जिसमें वह शायद उतना ही लम्बा और लम्पट हुआ करता था जितना अब है।

— मैं आपका शुक्रिया अदा करना चाहता हूँ क्योंकि मैं अब जो हूँ आप ही की बदौलत हूँ, आपकी उस नसीहत की बदौलत जो शायद आपको याद तक न हो; मुझे लगता है आपकी याद्दाश्त धुँधला गयी है वर्ना आपका चेहरा इतना कोरा न बना रहता, इतना कुछ सुन लेने के बाद भी। जो हो, आपने अनजाने में ही शायद अपनी नेक नसीहत से मेरी ज़िन्दगी बदल दी थी, मुझे उस सही रास्ते पर डाल दिया था जिस पर चलता-चलता मैं इतना ऊँचा हो गया हूँ, सिर्फ़ क़द में ही नहीं बल्कि वैसे भी।

वह फिर रुक गया, मुझे कुछ कहने-पूछने का अवसर देने के लिए या शायद अपनी बात का असर देखने के लिए, और मैं उस ज़माने की धुन्ध में खोया रहा जिसमें वह मेरा शागिर्द हुआ करता था।

— आपने न जाने कैसे हिम्मत बाँध कर एक शाम मुझे खरी-खरी सुना दी थी, दो टूक शब्दों में कह दिया था कि मैं कभी एक अच्छा या बुरा कवि नहीं बन पाऊँगा, कि मुझमें प्रतिभा का नितान्त अभाव है, कि मुझे कॉलिज को बीच में ही छोड़ कर इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट या इसी तरह का कोई कारोबार कर लेना चाहिए, ऐसा जिसमें बेईमानी, हेराफेरी और ज़ोर-जबरदस्ती की ज़रूरत और गुंजाइश हो, जिसमें दिल और दिमाग़ के बजाए रसूख़ और क्रूरता की ज़रूरत हो, और साथ ही आपने यह सलाह भी दी थी कि मुझे किसी बड़े घर की लड़की को फाँस उस से शादी कर लेनी चाहिए ताकि मुझे मेरे कारोबार में और मदद मिले। सर, मुझे आपकी बात अभी तक याद हैं, हू-ब-हू, मैं आप ही के शब्द दोहरा रहा हूँ। सर, मुझे उस शाम अपने घर के दरवाज़े पर देखते ही आपको तैश आ गया था, जिस पर मैं हैरान-सा हुआ था, खुश भी, लेकिन मुझे यह मालूम नहीं था कि आप मेरी ज़िन्दगी को ही बदल डालेंगे।

वह फिर रुक गया, शायद यही देखने के लिए कि मैं कुछ कहता हूँ या नहीं, लेकिन मैं कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं था। मैं गुज़रे ज़माने की धुन्ध में डूबा हुआ महसूस कर रहा था मानो मेरा कोई बेटा मेरा मज़ाक उड़ा रहा हो। इस एहसास से मैं रोमांचित हो रहा था— मेरा कोई बेटा नहीं।

— सर, आपको तैश में देख कर मुझे गुस्सा बहुत आया था, मन हुआ था कि आपका गला घोंट दूँ, और शायद मैंने ऐसा कुछ कर भी दिया होता लेकिन तभी मुझे आपकी बैठक में एक सुन्दरी उखड़ी-उखड़ी-सी खड़ी दिखायी दे गयी थी और मैं समझ गया था कि मैं ग़लत समय पर आपके घर



जा टपका था।

वह फिर रुक गया। उसने देख लिया था कि उसकी इस बात ने मुझे और मेरी याद को चौंका दिया था। अब मैं पुराने ज़माने की धुन्ध में उसे अपने दरवाज़े पर खड़ा देख रहा था। अब मुझे याद आ गया था कि वह उस शाम क्यों आ टपका था। अब मैं उस औरत को भी देख रहा था जिसे उस बद्तमीज़ ने सुन्दरी का ख़िताब दे कर मुझे फिर ज़ख़्मी कर दिया था।

— सर, अगर उस शाम मैंने आपकी बैठक में उस सुन्दरी को न देख लिया होता, और उसकी आँखें अचानक मेरी आँखों से टकरा न गयी होतीं, और उनमें अटकी हुई उलझन मेरी पकड़ में न आ गयी होती तो शायद मैंने आपका गला घोंट दिया होता और आप इस वक़्त किसी स्वर्ग या नरक में होते और मैं किसी जेल में। मैं ख़ैर मनाता हूँ, सर, आप भी मनाइए कि ऐसा नहीं हुआ। आपने तो शायद मुझसे पीछा छुड़ाने के लिए ही मुझे वह उपदेश दे दिया होगा लेकिन कुबड़े को आपकी लात कारगर साबित हुई, आपकी नसीहत मेरे दिल में बैठ गयी, मैंने कवि बनने का ख़याल वहीं छोड़ दिया, आपके दरवाज़े पर खड़े-खड़े। शायद मेरे मनपरिवर्तन का सम्बन्ध उस सुन्दरी से भी रहा हो। जो हो, कविता और कॉलिज छोड़ते ही मेरा क़द ऊँचा होना शुरू हो गया। मैंने आपके कहे पर अमल किया और इस ऊँचाई पर पहुँच गया। अब आप मेरे कहे पर अमल कीजिए, लिखना-विखना छोड़ दीजिए और मेरे सहायक बन जाइए, मैं जानता हूँ ऐसा करना आपके लिए आसान नहीं होगा, आख़िर आपने एक उम्र लिखने-पढ़ने में बरबाद कर दी, लेकिन यक़ीन मानिये अभी भी वक्त है, मैं आपकी ज़िन्दगी बदल सकता हूँ, आप मुझे मौक़ा तो दें, मैं आपका एहसान चुकाना चाहता हूँ, आप मेरे घर तो चलें, मेरी बीवी से तो मिलें, आप मुझ से डरें नहीं, मैं आप ही का बनाया हुआ हूँ.....।

वह बोलता चला गया, मैं बुझता। जब उसने बोलना बन्द किया तो मैं पूरी तरह बुझ चुका था, लेकिन मेरी आँखें तब भी उसकी ओर उठी हुयी थीं और मैं फ़ैसला नहीं कर पा रहा था कि उसे बताऊँ या नहीं कि उस शाम उस सुन्दरी ने मेरे प्यार को ठुकरा दिया था और मैं उस ठुकराहट से अभी तक बहाल नहीं हो पाया। अब सोचता हूँ कि उसे सब मालूम ही होगा।

# लेखक की बद्दुआएँ

मैं अपनी प्लेट पर झुका ही था कि मुझे उसका उठा हुआ हाथ दिखायी दे गया। वह इशारा कर रहा था कि मैं अपनी प्लेट उठा कर उसकी मेज़ पर जा बैठूँ। उसके साथ उसका एक चमचा बैठा हुआ था। इतना पेचीदा इशारा उसने कैसे किया और मैंने कैसे समझ लिया, इस पर अब मुझे हैरानी हो रही है। उस वक़्त यही ख़याल आया था कि अगर मैं फ़ौरन अपनी जगह से उठा नहीं तो वह वहीं से चिल्लाना शुरू कर देगा, उसके इशारे की जगह उसका शोर ले लेगा, हालाँकि उसका इशारा भी पुरशोर ही था। इधर-उधर बैठे कुछ लोग उसके हिलते हुए हाथ और होठों को कड़ी निगाहों से देख रहे थे। उसे उनकी कोई परवाह नज़र नहीं आती थी लेकिन मुझे झेंप महसूस हो रही थी, क्योंकि हाथ और होंठ हिलाए चले जाने के साथ वह हँस भी रहा था, और उसकी हँसी बहुत क्रूर थी। उसका चमचा भी हँस रहा था। अगर मैंने अक़्ल और हिम्मत से काम लिया होता तो उसे अपने एक पेचीदा इशारे से समझा दिया होता कि मैं उसके आदेशानुसार अपनी प्लेट उठा कर उसकी मेज़ पर नहीं जा सकता, मैं जहाँ था ठीक था। लेकिन जैसा मैंने ऊपर संकेत दिया मुझे ख़तरा था वह टलेगा नहीं, वहीं से चिल्लाना शुरू कर देगा, और उसका शोर मुझे और बुरा लगेगा।

उसके साथ उखड़ी-उखड़ी सी दुआ-सलाम तो बहुत पुरानी है लेकिन जिस तरह की बेतकल्लुफ़ी वह मुझ पर थोप रहा था, उसका अधिकार उसे नहीं, मैंने उसे कभी नहीं दिया, बल्कि मेरी कोशिश तो हमेशा यही रही है कि उसके और मेरे बीच वैसी दूरी बराबर बनी रहे जो एक बारसूख़ बलवान राजनैतिक दादा और एक बेरसूख़ बलहीन लेखक में होनी चाहिए। इसीलिए मैं यथा सम्भव उसकी आँख से आँख और उसके हाथ से हाथ नहीं मिलाता, इस डर के बावजूद कि वह किसी दिन मुझे पकड़ कर झकझोर देगा, कहेगा तुम मुझ से दूर-दूर क्यों रहते हो, तुम में इतनी अकड़ क्यों, तुम आख़िर हो तो दो कौड़ी के लेखक ही। उस दिन इसी डर ने मुझे उसका इशारा मान लेने पर मजबूर कर दिया होगा और शायद इस डर ने भी कि अगर मैं न उठा तो वह अपने उस पिट्ठू समेत मेरी मेज़ पर आ बैठेगा।

उसने नुमाइशी तपाक के साथ मेरा तआरूफ़ अपने उस पिट्ठू से करवाते हुए कहा, यह कहानियाँ वग़ैरह लिखता है, हिन्दी में, ज़्यादा बिकता तो नहीं लेकिन अपने आपको बड़ा भारी लेखक समझता है, इसीलिए मुझ जैसे अनपढ़ों से दूर-दूर रहता है, समझता है मुझे साहित्य-वाहित्य की क्या समझ, वैसे तो ठीक ही समझता है लेकिन शायद जानता नहीं कि मेरा उठना-बैठना उन बड़े-बड़े लेखकों के साथ है जो इसे जानते ही नहीं और जिनमें से कितनों को मैंने सरकार से न जाने क्या-क्या दिलवा दिया है - किसी को पदम्श्री तो किसी को पदम्भूषण, किसी को यह इनाम तो किसी को वह, किसी को इस डेलिगेशन में हंगरी तो किसी को उसमें बुलगारिया, और मैं इससे पूछता रहता हूँ कि इसे क्या चाहिए लेकिन यह साला अपनी अकड़ में ही मस्त रहता है, मैं सोचता हूँ कितने दिन और, आख़िर एक दिन तो इसे भी घुटने टेकने ही पड़ेंगे, अगर इसे कुछ लेना है तो ...

वह बोलता जा रहा था और मैं अपनी प्लेट में गड़ता। उसका मुसाहिब खीसें निपोर रहा था। मैं सोच रहा था अगर मेरे किसी लेखक दोस्त ने मुझे उसके साथ बैठा देख लिया तो क्या होगा! वह ऊँचा-ऊँचा बोल



रहा था, जैसे तक़रीर कर रहा हो। बोलने के साथ-साथ क्योंकि वह खा भी रहा था, इसलिए उसकी बातें और भद्दी सुनायी दे रही थीं। मैं सोच रहा था अगर आसपास मेरा कोई लेखक दोस्त बैठा होगा तो मेरी ख़ैर नहीं, मौक़ा पाते ही वह मुझे पकड़ कर लताड़ना शुरू कर देगा : तो तुम उस गुण्डे को भी जानते हो। तब तो तुम यह भी जानते होंगे कि वह लेखकों और कलाकारों को ख़रीदने का काम करता है, इस सरकार के लिए। क्या कोई चुनाव लड़ रहे हो? फ़ना हो जाओगे।

मैं उस गुण्डे की सरपरस्ताना बकवास सुन रहा था, अपने किसी दोस्त की फटकार की कल्पना कर रहा था, और अपनी प्लेट में अपना मुँह छिपा ही रहा था कि उसने मेरी पीठ पर एक धौल जमाते हुए पूछा— अरे यार, हमारी भाभी का क्या हाल है, उसे साथ क्यों नहीं लाए? और फिर उसने अपने साथी से कहा, शायद आँख मारते हुए, हमारी भाभी बहुत बढ़िया है, यह जितना सुस्त है वह उतनी ही चुस्त है, एकदम एवन। और फिर उसने मेरी पीठ पर यूँ हाथ फेरना शुरू कर दिया जैसे वह मेरा बाप हो।

मुझे इतनी कोफ़्त हो रही थी कि अगर मैंने अपने आपको ज़रा-सी भी ढील दी होती तो मुझे रोना आ गया होता। मेरा मटनपुलाव ठण्ढा हो रहा था और मुँह का नवाला निगलना मेरे लिए नामुमकिन। अब मैंने अपने आपको कोसना भी शुरू कर दिया था, टटोलना भी। कहीं मैंने इस क्रूर शख़्स से कोई फ़ायदा उठाने की कोई खुफ़िया ख़्वाहिश तो नहीं पाल रखी? क्या मेरे दिल में उसके रसूख़ और दबदबे के लिए कोई खुफ़िया आदर कहीं दबा पड़ा है? कहीं मैं भीतर से उसका और उसकी माफ़ियाई पहुँच का प्रशंसक तो नहीं। मेरे भीतर भी कहीं बिक जाने और बिक कर कोई ऊँची पदवी या उपाधि पा लेने की लालसा तो नहीं छिपी बैठी?

और अब मुझे इस ख़याल ने भी सालना शुरू कर दिया था कि वह मेरी पीठ पर हाथ फेरने के बहाने मेरी कमीज़ से अपना गन्दा हाथ पौंछ रहा था, वही गन्दा हाथ जिससे वह कुछ देर पहले चावल खा रहा था और जिसकी दो लथड़ी हुयी अँगुलियाँ उसने छूटते ही मेरे हाथ में थमा दी थी, और मैंने नेपकिन से अपना हाथ साफ़ किया ही था कि उसके चमचे ने उसे अपने गन्दे हाथ में ले लिया था और जब मैंने कांटा उठाने से पहले अपना हाथ फिर नेपकिन से पौंछ लिया था तो उसने जुमला कसा था— यार तुम सफ़ाईपसन्द बहुत हो गये हो, लेकिन यह मत भूलो कि यह हिन्दुस्तान है और तुम हिन्दुस्तानी हो। और फिर उसने अपने चमचे से कहा था— यह कहानियाँ वग़ैरह तो हिन्दी में लिखता है लेकिन साला है असल में अँग्रेज़, देखो तो कैसे कांटा चला रहा है।

मन हुआ कि पीठ पर फिर रहे उसके हाथ में अपना कांटा चुभो दूँ और जब वह चिल्ला उठे तो पूछूँ, क्या हुआ!

मन की ऐसी ग़लत मौजों को मैंने कभी नहीं माना, अक्सर उन पर कुछ क्षण मस्त हो लेने के बाद मैं उन्हें मसल देता हूँ और संभल कर स्थिर हो जाता हूँ, अपनी सोच और समझ को सही रास्ते पर डाल देता हूँ। मैं न डालूँ तो भी वे संस्कारवश अपने आप ही सही रास्ते पर चल पड़ती हैं।

उसकी और उसके मुसाहिब की क्रूर और अश्लील हरकतों और बातों के बीचों-बीच और बावजूद मेरी सोच और समझ ने मुझे कुछ और ही सुझाना शुरू कर दिया था : तुम क्यों अपने आपको कोस रहे हो, क्यों इस बेवकूफ़ के साथ अन्याय कर रहे हो। यह बेवकूफ़ तो है लेकिन इतना बुरा नहीं जितना तुम इसे बना या समझ रहे हो। क्रूर और अश्लील है तो क्या हुआ। क्रूरता सफलता का दूसरा नाम है। काश कि तुम भी क्रूर होते! तब दूसरों की सफलताओं पर कुढ़ने के बजाय तुम भी सफल हो जाते, गुमनामी

या नीमनामी के कुएँ से बाहर निकल आते। और फिर आजकल के ज़माने में ऐसे काईयाँ लोगों से मुकम्मल परहेज़ नामुमकिन भी तो है, नुकसानदेह तो है ही। मुसीबत और ज़रूरत के वक़्त ऐसे आदमी ही काम आते हैं। अब अगर इसको तुम्हारे साथ बेतकल्लुफ़ी जतला कर, यह दिखा कर कि तुम उसके दोस्त हो, तसल्ली मिलती है तो तुम्हें इतनी तकलीफ़ क्यों, तुम्हारा आख़िर जाता क्या है! और फिर यह भी तो सोचो कि एक लेखक होने के नाते तुम्हें हर क़िस्म के इन्सान में, हर क़िस्म के अनुभव में, हर तरह की स्थिति में दिलचस्पी होनी चाहिए, प्रूस्त को थी, बाल्ज़ाक को थी, और इस क़िस्म के आदमी में तो ख़ासतौर पर क्योंकि तुम चाहो तो इसके माध्यम से सारे राजनैतिक दाँव-पेंच और माफ़ियाई दुनिया को करीब से जान सकते हो। अगर तुम ऐसे सम्बन्धों से कोई निजी फ़ायदा नहीं उठाना चाहते हो तुम्हें मजबूर कौन कर सकता है। इस शख़्स ने शायद तुम्हारा इम्तहान लेने के लिए ही उन पुरस्कारों वग़ैरह का ज़िक्र किया होगा। तुम इम्तहान से डरते क्यों हो? तुम्हें अपने आप पर भरोसा क्यों नहीं? अगर तुम ईमानदार बने रहना चाहते हो तो कोई तुम्हें ख़रीद नहीं सकेगा। कहीं ऐसा तो नहीं कि अन्दर से तुम भी वह सब कुछ हासिल करना चाहते हो जो वे सब दूसरे कर चुके हैं जिनसे तुम अपने आपको ऊपर मानते हो? अगर ऐसा है तो आत्म-साक्षात्कार से परहेज़ मत करो। जो लेखक अपना सामना करने से कतराता है, वह दूसरों का सामना कैसे कर सकता है? तुम्हें इतना अकड़खाँ नहीं होना चाहिए। आख़िर इस पाजी ने तुम्हारा बिगाड़ा क्या है? और फिर यह भी तो हो सकता है कि इसकी क्रूरता इसकी मासूमियत का ही प्रमाण हो। या इसकी असुरक्षा का? दोनों सूरतों में तुम इसकी नीयत पर शक क्यों करो। जब तक तुम इसका कोई एहसान अपने सर नहीं लेते, तब तक तुम्हारा सर इसके सामने झुकेगा नहीं। जब तक तुम इससे कुछ माँगते नहीं तब तक... लेकिन...। लेकिन एक लक़वा। लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। हर इन्सान की अपनी तरह, अपनी कमज़ोरियाँ, अपनी कदरें। तुम सबको बरदाश्त करना सीखो। अपने अनुभव का विस्तार करना सीखो। तुम लेखक हो, सन्त नहीं। तुम्हारी नैतिकता संकीर्ण नहीं होनी चाहिए। तुम्हारे लिए कोई अनुभव वर्जित नहीं, कोई इन्सान वर्जित नहीं... ।

मतलब यह कि मैं आत्मधिक्कार को आत्म-सत्कार में बदल देने में सफल हो गया। और अब मुझे न अपनी दुर्बलता बुरी लग रही थी न उसकी क्रूरता, बल्कि महसूस हो रहा था मानो मैंने उस आदमी की शैली और अश्लीलता को और अपने पूर्वाग्रहों को एक नयी रौशनी में देख लिया हो, और वह रौशनी उस आदमी की अवाञ्छित सोहबत को न सिर्फ़ सह लेने में बल्कि उससे एक विकृत-सा रस निचोड़ लेने में मेरी सहायता कर रही हो। लेकिन यह एहसास अभी इतना पुख़्ता नहीं हुआ था कि मैं सर उठा कर उन दोनों की तरफ़ सीधा देख सकूँ, उनके हँसी-मज़ाक में शरीक हो सकूँ।

मेरी भूख मर चुकी थी। मेरी पीठ को मसलता हुआ उसका गन्दा सरपरस्ताना हाथ यूँ महसूस हो रहा जैसे कोई बड़ा-सा मेढ़क या कछुआ मुझे गुदगुदाने की कोशिश कर रहा हो। दूसरे शब्दों में यह कि सारे तर्कों की दी हुयी झूठी तसल्लियों तले मैं अब भी पछता रहा था कि मैंने अपनी मेज़ क्यों छोड़ी, कि मैंने उस जैसे प्रतिकूल व्यक्ति से किसी भी किस्म का सम्पर्क बनाया ही क्यों, कि मुझमें ऐसी कौन-सी खुफ़िया कमज़ोरियाँ हैं, जो मुझे उस जैसे बेईमान और बारसूख़ चलते पुर्ज़े की तरफ़ खींचती रहती है, मेरी सूझ-बूझ और नैतिकता के बावजूद या बर-अक्स?

मैं अपनी प्लेट में पड़े ठण्डे हो चुके पुलाव को घूर ही रहा था कि उस हरामी ने मेरी पीठ से हाथ हटा कर उसे मेरे घुटने पर रखते हुए कहा— क्यों लेखक साब, अब इसे घूरते ही रहोगे कि खाओगे भी।



उसकी अँगुलियाँ पीली और तेल सनी थीं और उनसे कुछ चावल अभी तक चिपके हुए थे। अपनी क़मीज़ और पतलून पर चस्पां उसकी पीली मुहर के बारे में सोच मेरा चेहरा नुचड़-सा गया लेकिन उसका हाथ उठा देने या उसे हाथ उठा लेने के लिए कहने की हिम्मत मुझे नहीं हुयी।

— अगर खाना नहीं था तो मँगवाया क्यों? करोड़ों लोग भूखों मर रहे हैं और तुम नख़रे कर रहे हो। अरे भाई, तुम तो लेखक हो, तुम्हें तो एक-एक दाने के लिए ख़ैर मनानी चाहिए...

उसकी आवाज़ इतनी ऊँची थी कि आसपास बैठे सब लोग सुन रहे थे। उनमें से कुछ को मुझ पर तरस आ रहा होगा, कुछ को उस पर गुस्सा, और कुछ हैरान हो रहे होंगे कि मैं उसकी बकवास को बरदाश्त कैसे कर रहा था। मेरे गले में एक गोला-सा अटक गया था, मेरी आँखों में गीला नमक। अपनी हालत पर किसी हरकत का परदा डालने के ख़याल से ही शायद मैंने अपने पुलाव पर काली मिर्च बुरकनी शुरू की ही थी कि उस हरामज़ादे ने एक भयंकर झूठी छींक मारी, काली मिर्च की शीशी मेरे हाथ से छीन ली, और दाँत पीस कर कहा— तुम जानते नहीं कि मुझे काली मिर्च से एलर्जी है, सब साले जानते हैं। अब तुम्हें इस काली मिर्च को चम्मच से छील कर अपने गिलास में घोलना होगा नहीं तो मैं तुम्हारी प्लेट को भी तोड़ दूँगा, तुम्हारे हाथ को भी।

अब सब लोग हमारी तरफ़ देख रहे थे। मैं दुआ माँग रहा था कि उनमें से कोई तो मेरी हिमायत में कुछ कहे लेकिन मैं जानता था कोई कुछ नहीं कहेगा। मुझे लग रहा था कि अगर मैंने चम्मच से बुरकी हुयी काली मिर्च को छीला नहीं तो वह मेरी प्लेट और मेरा हाथ तोड़ देगा। मैंने चम्मच उठाया और मिर्च को छीलने की कोशिश शुरू कर दी। तभी उसका चमचा बोला— यह क्या करवा रहे हैं आप इनसे? इतने बड़े लिखारी को आपने इतने छोटे से काम में लगा दिया। अब छोड़ भी दीजिए अपनी ज़िद।

मुसाहिब की झूठी हमदर्दी से मेरा सर मारे शर्म के कुछ और झुक गया और मुझे एक सच्ची छींक आ गयी। मेरी छींक के छींटे सीधे मेरी प्लेट पर गिरे, उसी तरह जैसे उस उल्लू के पट्ठे की झूठी छींक के गिरे थे।

— देखा! अब इसने भी छींकना शुरू कर दिया। काली मिर्च साली पर बैन लगा देना चाहिए।

— आपकी सरकार है, लगवा दीजिए न।

— तुम मज़ाक कर रहे हो। मैं चाहूँ तो लगवा भी सकता हूँ।

— मेरी क्या मजाल कि मैं मज़ाक करूँ।

— मैं चाहूँ तो इस तीसमारखां की सारी किताबों पर भी बैन लगवा सकता हूँ।

— लेकिन आप ऐसा करेंगे नहीं, यह तो आपके दोस्त हैं न?

— लेखक लोग साले किसी के दोस्त नहीं होते, हम जैसों के तो कभी भी नहीं। हमें तो ये लोग माफ़िया मानते हैं। क्यों बे?

— आपने इनका खाना ख़राब कर दिया।

— वह इसने खुद किया कालीमिर्च बुरक कर।

अपनी प्लेट को तो मैंने एक तरफ़ सरका दिया लेकिन उठने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। मुझे यक़ीन था वह मुझे उठने नहीं देगा। मेरी ख़ैर इसी में थी कि साँस रोके बैठा रहूँ, उसकी अपमानजनक हरक़तों को

एक पुराने दोस्त की विनोदप्रियता मान लेने का बहाना करूँ, मुस्कराता रहूँ।

उसका चमचा बोला– अब आपको इनके लिए नया आर्डर देना चाहिए।

वह बोला– मुझे मन्ज़ूर है लेकिन इसे सबके सामने क़सम खानी होगी कि यह उस पर काली मिर्च नहीं बुरकेगा।

इस पर वे दोनों इतना हँसे कि उन्हें खाँसी आ गयी। उन्हें खाँसी से बेहाल होता देख मैं उठकर बाहर की तरफ भागा। मुझे ख़तरा था वे लपक कर मुझे पकड़ लेंगे लेकिन उनकी खाँसी और भयंकर होती सुनायी दी।

बाहर निकलते ही मैंने एक बद्दुआओं उस हरामी को दी, एक उसके चमचे को, और एक अपने आपको। बद्दुआओं से जब मुझे शान्ति नहीं मिली तो मैंने एक गाली उस हरामी को दी, एक उसके चमचे को, एक अपने आपको, और एक अपने देश के नेताओं को। उन गालियों से भी मुझे शान्ति नहीं मिली।



ज्योत्सना मिलन

# माया के भटकाव

शब्दों की दुनिया में कुछ शब्द इतने भारहीन होते हैं कि वे होने के असह्य हल्केपन–(Unbearable lightness of being) की याद दिला देते हैं, जैसे हवा, जैसे छाया। कुछ मगर भारहीन और गरू साथ-साथ होते हैं जैसे ईश्वर, आत्मा, शून्य, लीला, माँ। इन शब्दों की जड़ें भाषा में इतनी दूर-दूर तक धँसी हो सकती हैं कि उस दूरी को अनन्त से कम दूरी माना ही नहीं जा सकता। सदा यात्रित ऐसे कुछ शब्द लगातार चलते चले जाते हैं, किसी भी दिशा में, कभी भी, बिना थमे, अविरल। इसी नस्ल का एक और शब्द है माया। माया जो कृष्ण बलदेव वैद के हाल के ही दिनों में आये उपन्यास *'मायालोक'* का एक पात्र होने से लगाकर *'माया महाठगिनी'* होने तक कुछ भी हो सकती है और अगर आप उसके पीछे चलना शुरू कर दें तो भारतीय संस्कृति के-वाङ्मय में आपको बेतहाशा भटका सकती है। बहुतों की तरह माया जयशंकर प्रसाद को भी छलना के भेस में ही मिली–

*छलना थी लेकिन मेरा उसमें विश्वास घना था*
*उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था।*

माया तो माया है। उसके मोह में न पड़ने के संकल्प को कौन निभा पाया है, नरसिंह मेहता जैसे भक्त कवि भी क्या बच पाए–

*'जागीने जोऊँ तो जगत दीसे नहीं/ऊँघमाँ अटपटा भोग भासे'* (जागकर देखता हूँ तो जगत् दिखायी नहीं देता और नींद में अटपटे भासते रहते हैं।) नारदजी के लिए तो माया भ्रम होने से लगाकर माया के इस कदर ठोस होने का अनुभव है कि उल्टे उसके छल होने की बात ही सन्देह के घेरे में आ जाती है।

कथाकार कृष्ण बलदेव वैद ऐसे ही शब्दों के कहें या जुमलों के मुरीद हैं जिनमें ऊपर से नीचे, इधर से उधर अन्तहीन खोदने की, उलीचने की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। चाहे अच्छे के लिए खोदें, चाहे बुरे के लिए उनके यहाँ खुदाई में कोई भेद नहीं होता। बल्कि ये कहना ज़्यादती न होगी कि जिन चीज़ों को खोदने का, उलीचने का निषेध होता है उन्हें खोदने, उलीचने में तो उन्हें अद्भुत रस आता है।

जीवन में तो पता नहीं वैसे भाषा में, लेखन में वैद साहब रस से, सौन्दर्य से विशेष ही परहेज़ करते हैं। बावजूद इस तथ्य के कि उनको बखूबी पता है कि-*रसो वै सः* और कि *'स एकाकी न रमते।'*। यानी, रमने के लिए ही उसने सोचा *'बहुस्याम् '* और वह *'बहु'* हो गया। नरसिंह मेहता को भी इस बारे में कोई आशंका नहीं थी; वे साफ कहते हैं – *'विविध रचना करी अनेक रस लेवा ने/शिव थकी जीव थयो एज आशे'* (फिर तो अनेक रस लेने के लिए उसने विविध रचना की और इसी उम्मीद

में शिव से जीव हो गया।) तब भी इस प्रश्न से तो कोई बचाव नहीं हो सकता कि जो अकेले न रमा वह होने में कब तक रमा रह सकेगा? इस तरह तो वह एक से अनेक और अनेक से एक होने के फेर में ही पड़ा रहेगा। पड़ा रहे तो पड़ा रहे फिलहाल हम तो उसके अनेक होने से काफी खुश हैं क्योंकि उनके अनेक में के एक हम भी हैं।

बहरहाल, उसके इस रस-स्वरूप की खुदाई वैद साहब ने न की हो उसके शून्य स्वरूप की 'सामने का सब कुछ नहीं' (दर्द ला दवा) स्वरूप की खूब की है। मैं, दूसरा, माया, लीला आदि की ही तरह। इस उपन्यास का नायक कहता है — *'सबसे ऊँचे दर्ज़े की अदृश्यता उसकी, जिसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता। लेकिन अनुमान सब लगा सकते हैं, मैं भी, हालाँकि मुझे भरोसा नहीं है कि वह है। सिर्फ़ यह कामना है कि वह हो।'*

ये वह वही है जिसे दुनिया *'परम आनंद'* के नाम से भी जानती है; जिसे वैद साहब का नायक *'संताप रहित आनंद'* कहना पसंद करता है और वो भले ही यह भी कहता हो कि *'वैसा आनंद मेरा अभीष्ट नहीं कि मैं अनुभव के घेरे में ही रहना चाहता हूँ, आनन्द के आकाश में उड़ना नहीं चाहता।'* लेकिन नायक का यह मान लेना कि —*'वैसा आनंद मुझे कभी किसी आलम में नहीं मिल सकता'* कम से कम उस कामना के होने का सबूत है। वैसे भी विरुद्धों में ही वैद साहब की खोज चलती है। एक जगह किसी बात के खिलाफ़ खड़े दिखेंगे तो दूसरी जगह उसी की तरफ खड़े मिल जाएँगे। इसी के चलते तो ये सारी उठा-पटक है और इसी के दृश्य बार बार उपस्थित होते रहते हैं—

*'तमाशा कहीं यही न हो—सिले हुए होठों की मुस्कान देखिए, उसमें मिला दृश्य देखिये, हाय-हाय का अंत देखिये, अंत का उजाला देखिये'* (काला कोलाज)

या ऐसा ही कोई दृश्य **मायालोक** का देख सकते हैं--

*'फिर अचानक सब कुछ हवा हो जाता है। सिर्फ़ मैं अकेला पंख फैलाए उस झूलते हुए पुल पर चल रहा हूँ और महसूस कर रहा हूँ, मैं नहीं कोई और अबाध में उड़ा जा रहा हो, राहत से ऊपर, रंज के कंकड़ों से दूर।'*

इस पूरे अनुभव की जड़ें नायक के लड़कपन में रेल की पटरी पर शाम को नंगे पाँव की जाने वाली मश्क में और उसके बाद रेल के आकर चले जाने के बाद के अनुभव तक धँसी निकल आती हैं—

*'जब गाड़ी गुम हो जाती तो महसूस होता मेरा दूसरा जन्म हुआ हो। इस एहसास से जो राहत मिलती उसकी तह में इस रंज के कंकड़ बिछे होते कि मैं फिर बच गया। वे कंकड़ अभी तक मेरी हर राहत की तह में बिछे रहते हैं, उनके बगैर किसी राहत की कल्पना मेरे लिए नामुमकिन है।'*

एक ओर तो नायक का ये हर बार बचे रह जाने का रंज है जो खरा है तो दूसरी ओर माया के सवाल से झलकती सदा अपने को बचा लेने की कामना भी उतनी ही सच्ची है—

*'तुम्हें एहतियात इतनी प्यारी क्यों? तुम बचे क्यों रहना चाहते हो? तुम डूब क्यों नहीं सकते?'*

दरअसल किसी भी चीज़ का सम्पूर्ण अनुभव दो विरोधी सिरों के बीच का एक ऐसा अनुभव है, जिनमें टकराहटों की गुंजाइश हमेशा और अनिवार्यतः बनी रहती है। वैद साहब इन्हीं गुंजाइशों



में खुलकर खेलते हैं—*'सामने का सब कुछ नहीं'* से मैं, अन्य और सब कुछ तक; माया से सिफ़र तक; घर से घरहीनता तक, अँधेरे से अन्त के उजाले तक। अँधेरों के आशिक तो वे इतने हैं कि अन्त के उजाले को किसी भी समय अन्त का अँधेरा भी कह सकते हैं। क्योंकि वे जानते हैं या उन्हें उम्मीद है कि जब अँधेरा सघनतम हो जाएगा तो उसी में से उजाला फूट निकलेगा, अँधेरे के केन्द्र में सुराख़ करता हुआ।

उनके यहाँ हर चीज़ को लेकर एक अनिश्चय, एक दुविधा, स्थायी भाव की तरह सदा बनी रहती है। उनका रास्ता *'कहीं न जाने'* का रास्ता है, जिसे कहीं न पहुँचाने वाला रास्ता भी वे मानते हैं। और फिर कहीं (मसलन घर तक) पहुँचाने वाले रास्तों को उनका नायक अक्सर भूल गया होता है। कहीं पहुँचना उनका मकसद भी नहीं है। उनके लिए किसी भी चीज़ को पाने की अपेक्षा उसकी तलाश ज़्यादा ज़रूरी है।

एक सिरे पर अगर किसी चीज़ से मुक्ति की तड़प है तो दूसरी तरफ़ उसी में खो, डूब या रम जाने की भी किसी क़दर कम नहीं। इसलिए किसी भी स्थिति में कोई चैन नहीं। और इसलिए एक स्थिति से दूसरी स्थिति तक का पूरा विस्तार जानलेवा सवालों, बेचैनियों, तिलमिलाहटों से बिलबिलाया रहता है। इस पूरी स्थिति को इस एक उद्धरण में देखा जा सकता है--

*'हम आजकल रात-रात भर कभी किसी घर की तलाश में भटकते रहते हैं कभी घर के रास्ते की तलाश में, कभी ऐसे रास्ते की तलाश में जो हमें घर से और घर की तलाश से और घर के रास्ते की तलाश से और रास्तों की तलाश से और तलाश की तमन्ना से और तमन्ना से मुक्त कर दे, मुक्त होने की तमन्ना से मुक्त कर दे। और जब मुक्ति का मोह भी मिथ्या नज़र आता है तो हम कभी एक दूसरे की तलाशी लेने लगते हैं, कभी अपनी-अपनी यह देखने के लिए कि कौन-कौन सा मोह या मूल मोह किस-किस भेस में कहाँ-कहाँ छिपा बैठा है।'*

जो व्यक्ति इस कदर बैचेन होगा वह *'अपने बन्द कमरे में भी चीते की तरह'* टहलते रहने को अभिशप्त है। और इसीलिए *'कहीं न पहुँचने की ज़ल्दी हो न हो तेज़-तेज़ चलना मुझे पसन्द है'*— तेज़ चलना नायक का शग़ल भी है। जिस व्यक्ति की चाल और सोच दोनों की गति इस कदर तेज़ हो उसकी भाषा इस तेज़ी का, इस रफ़्तार का शिकार होने से कैसे बच सकती है? ढेरों-ढेर सवाल हैं एक दूसरे पर चढ़ते, लुढ़कते-पुढ़कते एक में से दूसरा फूटते चले जाते सवाल, तो दूसरी तरफ ढेरों उपमाओं के जरिए अनेकानेक सम्भावनाओं को टटोलते, तलाशते छोटे-छोटे वाक्य इतनी तेज मार लगाते हैं कि पढ़ने की रफ़्तार का भी उससे अप्रभावित रह पाना कठिन है। सोच की तेज़ी से चलती, टकराती, तुड़ती-मुड़ती भाषा को ही है इसका सारा श्रेय।

उपन्यास, कहानियाँ लिखना शुरु किया वैद साहब ने, तभी से उन्होंने एक तयशुदा ढाँचे में एक असुविधा, एक अपर्याप्तता और एक बैचेनी को महसूस किया था। यही वज़ह है कि उनका पहला उपन्यास *'उसका बचपन'* भी कथा की एक तरह की निरन्तरता के बावजूद उपन्यास के फ्रेम से बाहर निकलने को छटपटाता हुआ, काफी कुछ फ्रेम से बाहर निकल आया है भले ही तब तक उसका वह बाहर निकलना हर विधा में घुसपैठिया होने की सीमा न हो। *'दूसरा न कोई'*, *'दर्द ला दवा'* तक आते-आते उन्होंने अपना एक ढाँचा तलाश लिया है। *'काला कोलाज'* और *'मायालोक'* को तो वैद ने स्वयं ही—अनुपन्यास—कह डाला है ताकि उन्हें उपन्यास न मानने

वालों को कुछ सुविधा हो जाये। हालांकि वे उन्हें उपन्यास को छोड़, कुछ और न मानना चाहेंगे।

मायालोक से पहले वाले उपन्यास 'काला-कोलाज' का पात्र अपनी अनेकानेक समस्याओं में से एक - लेखन की— समस्या से जूझते हुए साफ़तौर पर कहता है—*'मैं चाहता हूँ, किस्सों में किस्से न हों। तो क्या हो? उसी की तलाश में तिलमिला रहा हूँ।'*

यानी कहानी उपन्यासों में अगर कहानियाँ और किस्से न हों तो क्या हो, इसी तलाश की तिलमिलाहटें हैं उनकी कहानियाँ और उपन्यास। लेखन, भाषा, रचना के रूपाकार को लेकर की गयी वैद साहब की सोच के विपुल प्रयत्नों को 'बिमल-उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ' में भी देखा जा सकता है। वर्जित क्षेत्रों में रमने के उनके चाव से, लगाव से इन्कार नहीं जा सकता—*'कथा अकथ्य की', 'भाषा भिचड़ी'* और उसमें आहटें महाशून्य की जब हों। शब्दों के सन्दर्भ बदलने और उनसे दूसरे ही अर्थ पैदा करने के भी वे बड़े शौकीन हैं जैसे—*'मुँह खोलने की हाज़त होती है या परती पतिवता'*। वर्जित क्षेत्र के विशेष खोजी की कई विशेष खोजें हैं।

'मायालोक'— उपन्यास के नाम में ही माया नाम की एक स्त्री, माया नाम की अनेक स्त्रियों की सम्भावना से लगाकर, उसके अपने आप में पूरा एक सृजित मायालोक होने की सम्भावनाओं की भनक उसके सिफ़र में बदल जाने समेत मिल जाती है।

माया नाम की स्त्री इस उपन्यास में एक सदा उपस्थित चरित्र है। चाहे वह सशरीर उपस्थित हो अथवा न हो। कथानायक की स्मृति में, उसके ध्यान के केन्द्र में, उसकी सोच में, किसी दूसरी स्त्री में वह हाजराहुजूर मिलती है—जैसे *'मैं वहाँ अकेला खड़ा था--और माया के बारे में सोच रहा था।'* स्वयं वह तो अँधेरे में खड़ा था मगर उसे विश्वास था कि *'वह जहाँ कहीं भी अँधेरे में थी और मेरी ही तरह अकेले में खड़ी मेरे बारे में सोच रही थी'* लेकिन अपने अन्देशों से भी उसका कोई छुटकारा नहीं था—*'अगर माया उस अँधेरे में, मेरे साथ खड़ी होती तो मैं उसे वहीं अकेली छोड़ खुद कहीं और जा खड़े होने के लिए अकुलाना शुरु कर देता।'*

उपन्यास में स्त्रियाँ तो कई हैं, जिनमें से नाम सिर्फ़ दो के ही पता चलते हैं माया और काया। बाकी सब या तो नामहीन हैं या उनके नाम होने न होने से कोई फ़र्क नहीं पड़ता। स्त्रियों में कोई बुढ़ियाँ भी हैं जो अक्सर माँ हैं और कभी-कभार कोई भिखारिन है। अधिकतर प्रसंगों में एक स्त्री दो पुरुष हैं, जिनमें एक शाश्वत रूप से कथानायक है दूसरा अक्सर दोस्त, और स्त्री अक्सर दोस्त की पत्नी या कोई भी औरत सिर्फ़ औरत। धीरे-धीरे हर औरत माया में परिणत हो जाती है या एक अनिर्णय, एक असमंजस की स्थिति पैदा हो जाती है—

*'माया को याद करता हुआ मैं एक कमरे में दाखिल हुआ तो मुझे एक औरत पेट के बल फ़र्श पर यूँ लेटी हुई दिखाई दी, जैसे कोई किताब पढ़ रही हो, उसके पैर छत की ओर उठे एक-दूसरे से खेल रहे थे। ...ख़याल आया उसका डील-डौल माया का सा ही है, कहीं वह माया ही न हो। मेरे इस ख़याल के जवाब में ही मानो, उस औरत ने लेटे ही गर्दन को मरोड़कर मेरी तरफ देखा। मैं काँप उठा—एक साथ दो परस्पर विरोधी विचार मेरे मन में कौंध गए: यह तो माया ही है, यह माया नहीं।' यों कथानायक को पता है कि 'माया मेरे साथ नहीं थी, लेकिन अन्दर औंधी लेटी उस औरत में जाने क्यों नज़र आ रही थीं।'*

इस तरह की घटना उपन्यास में कोई एक बार नहीं घटती, घटती ही रहती है अलग-अलग



समयों में अलग-अलग स्थानों पर—

*'उस कमरे का दरवाज़ा आधा खुला या बंद था और उसमें खड़ी वह मुस्करा रही थीं मुझे उसकी सूरत और सीरत और मुस्कराहट में उन तमाम औरतों के किसी-किसी रंग-अंग, ढंग-ढोंग के किसी न किसी गुण-दोष का कोई न कोई नमूना झिलमिलाता-सा नज़र आ गया जिन्हें मैंने किसी मौज-मस्ती, स्वप्न में मन ही मन सराहा, चाहा था। ऐसी औरतों की संख्या मेरी कामनाओं और नाकामियों की संख्या की तरह बहुत बड़ी है। मुझे महसूस हुआ कि उन सब औरतों को उस औरत में देख लिया हो...उसकी आवाज़ में मुझे असंख्य आवाज़ें सुनाई दीं मैं समझ गया वह माया का ही एक रूप थी'* यहाँ तक कि किसी घर के आँगन में *'काले मांस की मुट्ठी सी बनी बैठी'* स्त्री को देखकर जहाँ एक ओर उसने कोई *'विरूपा'* या *'कोई और बला'* समझा वहीं *'यह ख़याल भी आया कि कहीं माया ने ही वह रूप न ले लिया हो। उसे भेस बदलने का शौक है।'*

जिस भी स्त्री को नायक एक अलग स्त्री मानकर उसका पीछा करता है— *'मेरी रफ़्तार धीमी हो गई, उसकी रफ़्तार भी धीमी हो गयी। आवाज़ आयी कहाँ भागे जा रहे हो? मैं उसी क्षण रूक गया। वह भी उसी क्षण रूक गयी पहले ख़याल आया माया ही होगी, फिर इस ख़याल पर गुस्सा आया—क्या उम्र भर मैं हर खूबसूरत औरत में माया को ही ढूँढ़ता रहूँगा?'*

तो प्रश्न ये उठता है कि क्या नायक सच में हर औरत में माया को ढूँढता है या माया ही कई-कई औरतों का रूप धर लेती है?

माया की ही तरह 'मायालोक' उपन्यास की एक और महत्त्वपूर्ण तलाश या पड़ताल घर की है, घर के रास्ते की है। कथानायक को कोई भी घर अपना घर नहीं लगता। घर के बेगानेपन की उसकी तड़प कबीर के *'ना मेरा ना घर तेरा'* के परायेपन की याद सी भी दिलाती है। नायक और माया अलग-अलग इलाकों में अपने लिए एक घर तलाशने में मुब्तिला हैं। नायक *'जानता है, हम माहिर नहीं* (घर ढूँढने में) *मजबूर हैं घर ढूँढते रहने पर, क्योंकि हमें अभी तक घर नहीं मिला, अपना घर नहीं मिला, ऐसा घर नहीं मिला जिसके बाद घर की तलाश खत्म हो जाये।'*

वैद साहब की तलाश हमेशा ख़ालिस या असली चीज़ों की ही तलाश होती है, उससे कम में उनका कोई गुज़ारा नहीं फिर वह अँधेरा ही क्यों न हो...*'उसका हाथ अँधेरे की तरह कोमल न होता तो...' 'मैं महसूस कर रहा था जैसे वह खुद साक्षात अँधेरा हो...'*

*'उस रात वह मुझे दिखाना चाहती थी कि असली अँधेरे नीले नहीं होते, घने होते हैं, उनसे जो डर महसूस होता है वह सघन होता है उनकी कोमलता का आकर्षण असाधारण...'*

*'अजनबी अँधेरे में निःसंकोच उतरना उसकी अजनबियत का निरादर होता'...*

*'जिस अँधेरे में वह मुझे उतार रही थी वह इकहरा नहीं था...'*

*'अगर वह अँधेरा खालिस न होता तो हम खामोश न रह पाते।'*

लिहाज़ा ये कि घर की तलाश भी असली घर की तलाश है। हालाँकि उन दोनों को कहीं इस बात की भनक भी है कि वैसा घर जिसे वे अपना मान सकें, पूरी तरह रम सकें वह उन्हें जीते जी कभी नहीं मिलेगा। फिर भी उनकी यह तलाश जारी रहती है। और ऐसा घर पल भर के लिए ही सही कथानायक को चकित करता हुआ कहाँ-कहाँ मिल भी जाता है...

*'उसी के बारे में सोचता-सोचता मैं सफाई के उस छोर पर जा पहुँचा था जहाँ से सब सिफ़र में सिमट*

*गया महसूस हो रहा था और उसी सिफ़र में से फिर वही माया उभरती हुई नज़र आई, उदास और मुस्कुराती हुयी; धीरे-धीरे मेरी तरफ़ बढ़ती हुयी, आँखों में अपना असली घर उठाये, मुझे उसी घर में ले जाने के लिए जो उसका है न मेरा, जिसका सामान वह आजकल बाँधती-खोलती रहती है।'*

घर की तलाश के तरीके भी इनके अनोखे ही हैं और तलाश के ठिकाने भी उतने ही अनोखे- *'सामने तैरते तलाब के तट पर कपड़े धोती सुखाती औरतें खुद सफेद, सूखते लहराते कपड़ों में बदल गयीं। गौर से देखा तो तालाब के ऊपर यूनानी अप्सराएँ उड़ रही थीं मैंने उनकी उड़ान में अपना घर ढूँढना शुरु कर दिया।'*

असली घर यानी कैसा घर? यह उन्होंने कई विरोधाभासी तरीकों से बताने की कोशिश की है, जिसमें ये असली घर सूक्ष्म या अमूर्त ही निकला है जिसमें न रहा जा सकता है न जिसे थामा जा सकता है। तब भी घर का असम्भव खोजी घर खोजने से बाज़ नहीं आता--

*'कल उस अँधेरे में निपट अकेला खड़ा मैं माया, घर और घर जैसी घिरी हुई जगहों के बारे में सोच रहा था और किसी ऐसे घर के लिए तड़प रहा था जिसके अँधेरे में घुटन न हो, धुँआ न हो, कि अचानक क्षितिज पर मुझे जगमगाते चित्र दिखाई दिए और अबाध का ऐसा अनुभव हुआ जिसे मैं बयान तो नहीं कर सकता लेकिन जो एक क्षण के लिए ही सही, मुझे लील गया। जहाँ वे अलौकिक चित्र जगमगा रहे थे, और वहाँ कुछ नहीं था। एक क्षण के लिए ही सही मुझे घर मिल गया था।'*

यों तो एक स्तर पर नायक घर की इस खोज से परेशान आ चुका है लेकिन उसका अपनी इस तलाश को तोड़ना माया के यह मानने पर ही निर्भर है कि वह तंग आ चुकी है। तब वह भी कह देगा...

*'जहाँ पनाह मिल जाएगी, जितनी भी देर के लिए वही हमारा घर होगा, उतनी देर के लिए, चाहे वह पनाह ख़ाक में ही क्यों न मिले, भीड़ के पैरों में ही क्यों न मिले। माया का मैं कह नहीं सकता, मेरी तलाश की ताकत किसी तिनके की सी थी जो दिन में कई बार टूटता था।'*

वैद साहब का 'मायालोक' एक ऐसा लोक है जिसमें एक ओर तो ऐसे आध्यात्मिक कहे जा सकने वाले क्षणों की कौंध वाले अनुभव हैं, जिनमें *'अन्त के उजाले'* या *'सामने के सब कुछ नहीं'* के अनुभव भी हैं और इस दुनिया और उस दुनिया की सीमा रेखा की झूलती फ़सील-सी पर या रस्सी पर डैनों की तरह हाथ फैलाये अबाध में उड़ने की राहत के क्षण भी हैं तो दूसरी तरफ स्त्री-पुरुष के, ठोस शरीर होने की अनिवार्य कशिशें हैं, *'मैला मजा'* है, तड़पनें हैं। अपनी तड़पनों को वे *'तपस्या'* का दर्ज़ा देना चाहते हैं, कोई और चाहे न चाहे। स्त्री-देह की भी इतनी अंधी तड़प है कि उसके परिणाम में वे उसे पाने और उससे मुक्ति के विस्तार में एक सी लगन से रमते हैं, इस प्रक्रिया में कई बार जुगुप्साजनक स्थितियों का चित्रण भी मिल जाता है। इसमें उनके कथानायक की इस स्वीकारोक्ति का हाथ भी हो सकता है—

*'जो मुझसे हकीक़त में नहीं हुआ वह अब ख़्वाब में हो रहा है।'*

हकीक़त में किए जानेवाले कृत्यों से कई बार मन में, स्वप्न में किए जाने कृत्यों की संख्या अधिक होती है और उन्हें ख्वाब में किये गए कृत्य भी मान सकते हैं। जिन कामों में मन की भूमिका अहम् होती है उन्हें कई बार आदमी हकीक़त में करने से बचता है। कुछ ऐसी ही स्थिति नायक की है इसलिए उसकी यह स्वीकारोक्ति भी- *'मेरे अधिकतर जुर्म मेरे मन में ही होते हैं। मेरा अपराधबोध इसलिए बहुत गहरा होता है।'*



स्त्री की उपस्थिति ऐसे प्रसंगों में अक्सर एक करारी देह की तरह होती है और पराये पुरुष की उपस्थिति में नंगी पिटती स्त्री देह की तरह की भी इन प्रसंगों में काया के काले अंगूरों और मय उन अंगूरों के काया और माया के साथ ऊँट की सवारी वाला प्रसंग सिरमौर हो सकता है।

वैद साहब के लेखन को दिलचस्प खेल की शक्ल देता रहता है उनका खास क़िस्म का ह्यूमर। वह भारी भरकम विषयों को भारहीन बनाने की भूमिका का निर्वाह भी करता चलता है। एकाध ही उदाहरण पर्याप्त होगा— *'मैं शायद किसी अस्पताल के किसी ऐसे वॉर्ड में अकेला हूँ जिसमें उन मरीजों का इलाज किया जाता है जिन्हें किसी बिस्तर में चैन नहीं मिलता।'*

उनकी उपमाओं का एक अलग ही मज़ा है— *'लंबी, काली दाढ़ीवाला एक सिपाही उस भीड़ में किसी दुर्लभ फूल की तरह खिला था'* या *'मैं एक कोने में यूँ बैठा था जैसे किसी ने फूँक मार बुझा दिया हो'* या *'जिसमें मैं खुद ख़ाक के एक सचेत ज़र्रे से ज़्यादा नहीं था'* या *'नींद किसी सूखी टहनी की तरह अचानक तड़क जाती है, मैं जंगल की तरह जाग जाता हूँ।'*

'मायालोक' की यह दुनिया सच में कई बार मायावी हो उठती है—

*'हमारी या किसी की डुबकियों से कोई आवाज़ पैदा नहीं हो रही थी... कोई किसी से कुछ नहीं कह रहा था, शायद सब वहाँ अपनी आवाज़ों के विसर्जन के लिए आये थे। कुछ डुबकियों के बाद हम बाहर निकल आये थे। हमारे कपड़े गीले और भारी हो जाने चाहिये थे, लेकिन वे पहले से भी ज़्यादा सूखे और हल्के लग रहे थे। मैंने देखा कि हमारे कपड़ों के रंग बदल गये थे, माया की सफेद साड़ी पीली हो गयी थी, लाल चोली सफेद, मेरा नीला कुरता काला हो गया था, सफेद पायजामा नीला। हम दोनों ने एक दूसरे को देखा और अनायास कहा हमारे चोले बदल गये हैं।'*

कृष्ण बलदेव वैद हिन्दी भाषा के अपनी तरह के अकेले लेखक हैं जिन्होंने कथा लेखन के लिए सर्वथा नए रूपाकारों की खोज का जोखिम उठाया है। न केवल रुपाकारों की खोज का, बल्कि निषिद्ध क्षेत्रों की खुदाई का जोखिम भी उठाया है। सारे स्वीकृत औपन्यासिक तत्वों को यहाँ तक कि कहानीपन और किस्सागोई को भी अपनी उपन्यासों से गायब करते हुए उन्होंने उपन्यास लिखे। इसी के परिणामस्वरूप कई बार 'बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ' जैसा उपन्यास लिखे जाने के कई सालों तक अप्रकाशित पड़ा रहा। लेकिन अपनी अद्भुत लेखकीय अर्न्तनिष्ठा के चलते उन्होंने हमेशा वही लिखा जो उन्होंने लिखना चाहा। उन्हें पढ़ा भी उन्हीं की शर्तों पर जा सकता है, क्योंकि उनकी रचनाएँ उन्हीं की डाली हुयी लीकें हैं, उन पर चलने का एक अलग ही अनुभव है।

**कैलाश वाजपेयी**

# मायालोक

कृष्ण बलदेव वैद अपने अनुपन्यास की भूमिका में जब कहते हैं कि उपन्यास अपने स्वभाव और संस्कार से ही एक बहुरूपीय विधा है तो ठीक ही कहते हैं। इसलिए कि शास्त्रीय दृष्टि से गद्य प्रबन्ध का वह प्रधान रूप जिसमें किसी चरित्र का देश काल की सीमाओं के भीतर सहज भरोसेमंद चित्रण किया जाता है तो ऐसी रचना को उपन्यास कहा जाता है। यह अलग बात है कि कुछ उपन्यास घटना तो कुछ चरित्र प्रधान होते हैं। मगर कथावस्तु, देशकाल, उद्देश्य, पात्रों को एक चरित्र देने की ज़िम्मेदारी ओढ़कर ही लेखक आगे बढ़ता है। प्रेमचंद से लेकर पुष्पा तक उपन्यासों का फलक लगभग एक सदी तक पसरा पड़ा है। समय समय पर समीक्षकों ने उन्हें आदर्श, यथार्थ अंथवा फिर मार्क्स अथवा गांधीवादी जैसे कठघरों में भी खड़ा किया है। किसी को शैलीप्रधान कहा है तो किसी को विमर्शपूर्ण। कथावस्तु के आधार पर किसी को ऐतिहासिक तो किसी को आंचलिक। किसी को तिलिस्मी कहा है तो किसी को दार्शनिक! मगर किसी ने यह नहीं सोचा कि ज़िन्दगी रेल की पटरी नहीं है और न ही घटनाएँ इस तरह घटती हैं कि उनका प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति से होता हुआ फलागम का मुखापेक्षी हो। ज़िन्दगी के कई तल हैं। नहाना, खाना, मैथुन, और सोना पशुजीवन जैसे है फिर विद्या उसे पर्वानसन्धानी बनाती है। जिस बिन्दु पर यह पड़ाव आता है वहाँ से वह परिभाषित होना शुरू करती है और अन्त में उसका सृजन पक्ष उभरता है। पशुजीवन और मनुजीवन यह दो मोटे भेद हैं। मनु शब्द मन से बना है। मनन के कारण, ही हर सृजनशील को मनस्वी कहकर उसे पशुजीवन से अलग रखखा गया है।

दर्शन की भाषा में ज़िन्दगी त्रिगुह्य है। अर्थात् काय, वाक् और चित्त का मिला-जुला रूप। वही तीन पर्दों पर उद्भासित हुआ करती है। समय उसकी सर्वाधिक तरल, निथरी, अपरिभाषेय पोशाक है। जैसे बहते हुए पानी में पड़े पत्थर को छूता हुआ जल बहता चला जाए और पत्थर को पता ही न चले कि वह छीज रहा है। बिलकुल इसी तरह हमको जिया जा रहा है। पूरा दृग्विषय हमें लगातार पी रहा है, हमें खाया जा रहा है और हम सोचते हैं कि हम आयुष्मान हो रहे हैं। शुद्ध भौतिकवादी इससे उल्टा सोचते हैं। अपने को कर्त्ता मानते हुए वे परिवेश में बदलाहट का प्रयत्न करते हैं। वे भी गलत नहीं क्योंकि पुरूषार्थ द्वारा क्या कुछ सम्भव नहीं। इस सदी में ऐसे कई, अग्रदूत हुए जिन्होंने अपने संकल्प और सामूहिक मन की मदद से, आम आदमी के हित में सारी सामाजिक व्यवस्था ही बदल दीं संकल्पनिष्ठ मन सामान्य नहीं होता। प्रतिभाशाली व्यक्ति भी सामान्य नहीं होता। क्योंकि उसकी विक्षिप्ति उपयोगी है इसीलिये हम उसे सराहते हैं। निराला, दस्तॉयवस्की, विसेंट वेनगॉग, नज़रूल यहाँ तक कि आइंस्टाइन सबके सब अपनी अपनी तरह के पागल थे। बिना पगलाये यहाँ नया कुछ मिलता भी कहाँ है। मनोविज्ञान की एक शाखा इन दिनों, असामान्य मनवालों का वर्गीकरण कर यह शोध कर रही है कि किसे निरापद माना जाए किसे नहीं।

कृष्ण जी का यह अनुपन्यास परिभाषा का मुखापेक्षी नहीं इसलिये इसे प्रारम्भ से ही प्रारम्भ किया जाय



बिल्कुल ज़रूरी नहीं। 'मायालोक' का लेखक सम्भवतः यह मानता है अथवा हमारे इस कथन से उसकी असहमति नहीं ही होगी कि हर सांस अन्तिम भी हो सकती है इसलिये इस कृति में भी अन्त, प्रारम्भ से ही भासमान है। मायालोक एक साथ दृश्य-अदृश्य, चेतन-अवचेतन, इदन्नमम् सर्वम्-मम् भाव-अभाव, अनवस्थान प्रत्यावस्थान, अनुकूल-प्रतिकूल सुरति निरति, स्मृति विस्मृति के बुलबुले निरन्तर बनाता मिटाता चलता है। यह प्रक्रिया इतनी गत्यात्मक और सूक्ष्म है कि इसकी आर्थी शाब्दी व्यंजना का स्वाद लेने के लिये कई बार पढ़ने की स्फुरणा अथवा ललक होती है। दस यथार्थपरख उपन्यास एक तरफ और मायालोक का छाया यथार्थ एक तरफ। 'मायालोक' डायरी की तरह लिखा गया है। रोज़ कुछ न कुछ घटता है। आज कचहरी जाना है। आज अख़बार के दफ़्तर। कभी कूड़ा फेंकने जाते हुए, कभी भिखारिन को पैसे देते हुए कुछ न कुछ घटता है। मगर मामूली सी दीख पड़ती, रोज़मर्रा की इन छोटी छोटी घटनाओं को तौलने उन पर विमर्श करने का अंदाज लेखक का स्वयं अपना है। उसका मन कहाँ-कहाँ नहीं जाता कैसे कैसे नहीं तौलता, व्यक्ति, परिवेश, व्यतीत और वर्तमान को।

'मायालोक' में सबसे पहले माया शब्द ही समझे जाने की माँग करता हैं। एक व्याख्या तो माया की यह है कि *'मा'* अर्थात् नहीं, और *'या'* अर्थात् *'जी'* तो जी नहीं होकर भी सबको अपने पीछे दौड़ाती है— माया कहलाती है। माया भी मन की ही उत्पति मानी गयी है। माया, भारतीय तत्वचिंतको की अभूतपूर्व खोज है कई लोग उसे मन की गुणावन भी कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र में उसे तिर्यकयोनि देनेवाली माना गया है। योगवासिष्ठकार ने तो हर तरह की क्रिया तक को ही माया कह डाला है:

कास्ता दृशोयासु न सन्ति दोषः
कास्ता दिशोयासु न दुःख दाहः।
कास्तु प्रजायासु न भङ्गुरत्वम्
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया।

योगवासिष्ठकार ने यह भी लिखा है कि सत्ता को असत्ता अथवा सदसत्ता (सत् और असत् दोनों) बनाने की सामर्थ्य होने से इसको माया कहते हैं। अपूर्ण अन्धेरे में खण्ड से इस कृति की शुरूआत होती है। लेखक की निम्नलिखित पँक्तियाँ महत्त्व की है इसलिये कि इन्हें पढ़कर अद्वैतवादी स्थापना का स्मरण हो आता है। *'लोगोंः मुझे आदेश मिला है कि मैं आपको बता दूँ मैं बेगुनाह नहीं हूँ; मैं पूछना चाहता हूँ क्या आप मुझे बेगुनाह समझते हैं? कोई किसी को बेगुनाह नहीं समझता। मैंने कभी अपने आप को बेगुनाह नहीं समझा। क्योंकि मैं अपने लिए मैं नहीं कोई और हूँ। मैं अपना दूसरा हूँ।'*

अद्वैत कहता है जहाँ द्वैत भाव गिर जाए, अपने होने का एहसास ही न रहे वहाँ अद्वैत घटता है। मगर विडम्बना यह है कि जैसे ही दूसरेपन का अभाव हुआ नहीं कि अपनापन भी तिरोहित हो जाता है। अद्वैत में दोनों नहीं बचते। न अनुभवकर्ता न वह जो अनुभूय था! मगर लेखक ने यहाँ 'मैं' का व्यत्यय कर किसी अपने ही जैसे दूसरे को रच डाला है।

मायालोक में *'माया'* एक पात्र है भी और नहीं भीं इसलिये कि वह कभी दृश्य तो कभी अदृश्य, कभी कारक तो कभी अकारक, कभी सच तो कभी छाया की तरह आती और अस्त हो जाती है। वह एक पहेली है। वह कभी भी उभरकर कभी भी खो सकती है। उसे पात्र भी कहने न कहने से कोई अन्तर नहीं पड़ता या उसके बारे में कुछ न कहना भी उसके बारे में कुछ कहने जैसा ही है।

लेखक के अनुसार—*'मेरा काम अधूरा है। मेरा इसमें कोई दोष नहीं मेरे अधूरे काम में कई दोष है। मैं कभी उसे*

*पूरा कर सकूँगा न उसके दोषों को दूर। लेकिन मैं उसे पूरा करने की कोशिशों से बाज़ आऊँगा न उसके दोषों को दूर करने की कोशिशों से। मैं शेखी नहीं बघार रहा। मेरे इस दावे पर भी किसी को यक़ीन नहीं आएगा। मुझे उम्मीद है कि यह सुननेवाले के मन में अपने आप आगे बढ़ता चला जाएगा— अन्त से अनन्त तक। मैं अपनी अधूरी कोशिशों से बाज़ आ जाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि कोई मेरी अधूरी कोशिशों का अंत कर दे। मेरे अंत से पहले मेरा अन्त अब दूर नहीं मैं चाहता हूँ कोई मेरे चाहने का अंत कर दे।'* यह ऊहापोह नितान्त आज का है इसे पढ़कर वर्षों पहले पढ़ी एक प्रहेलिका जो बालाख्यायिका नाम से जानी जाती है। एकाएक याद आ गयीः

*शून्य नाम के एक नगर में तीन राजकुमार रहते थे। जिसमें दो तो पैदा ही नहीं हुए थे और तीसरा अभी गर्भ में ही नहीं आया था। विपत्तिग्रस्त उन तीनों ने सोचा कि धनोपार्जन किया जाए। बाहर जाकर मार्ग पर चलते चलते तीनों बहुत थक गये। तीनों तीन वृक्षों की छाया में जा बैठे। ये तीन वृक्ष ऐसे थे जिनमें से दो तो उपजे ही नहीं थे और एक का बीज भी नहीं बोया गया था। वहाँ ठहरकर जब वे आगे बढ़े तो राह में शीतल जलवाली तीन नदियाँ उन्हें दिखायी दी। उनमें से दो नदियाँ जलरहित थी और तीसरी सूख गयी थी। नदियों के पार उन्हें भविष्य नगर दीख पड़ा जिसमें मकान मिले। जिनमें दो तो अभी बने ही नहीं थे और तीसरे में एक भी दीवार नहीं थी।*

आख्यायिका आगे भी है; निहितार्थ यह है कि मन के रंग और कहने के ढंग, संख्यातीत हैं।

संवेदना का बहाव माना जाए इसे या विभक्त-मनस्कता अथवा फिर गहन दार्शनिकता से उपजी निस्संगता 'मायालोक' पर कोई भी विमर्श पूरा नहीं उतरता उस पर की गई हर टिप्पणी अधूरी लगती है। उदाहरण के लिये लेखक और एक भिखारिन के बीच हुए संवाद का यह अंश जिसमें लेखक भिखारिन की चमड़ी के नीचे जाने की शर्त रखता है। भिखारिन लेखक द्वारा किये गये अँग्रेजी मुहावरे के अनुवाद को 'देसी' अर्थ भर समझा पाती है। जबकि लेखक उसकी चेतना में बैठकर, उसकी दृष्टि से दुनिया को देखना चाहता हैः

*— तुम कौन हो ?*
*— एक अनुभवी भिखारिन।*
*— मैं नहीं मानता।*
*— तो मैं कौन हूँ*

*— शायद मेरी ही तरह दूसरों के तन मन की एक नाकाम खोजी मेरे पास इस तरह की एय्याशियों के लिए वक्त नहीं मैं एक पेशेवर भिखारिन हूँ। दया के दिये जलाकर भीख बटोरना मेरा पेशा है। इतनी सी थी जब मैंने रिरियाना शुरू किया था। अब आखिरी दिनों पर हूँ इसलिए रिरियाना बंद कर दिया है। अब अकड़कर भीख मांगती हूँ। दस रूपये से कम नहीं मांगतीं दया के दिये नहीं जलातीं जब जलाया करती थी या जलाने की कोशिश किया करती थी तब भी नाकाम रहती थीं जो लोग भीख देते थे, दया के दबाव से नहीं पीछा छुड़ाने के लिए ही देते थे या फिर धर्म निभाने के लिए ही, कुछ देकर बहुत कुछ पाने के लिए हीं कुछ ऐसे भी हुआ करते थे जो हवस भरी निगाहों की कीमत अदा किया करते थे, यह सोचते हुए कि पैसा देकर उन्होंने अपना पाप धो डाला हो। अब भी दिन भर में एक दो ऐसे मिल ही जाते हैं जो मेरी अदा पर हैरान या खुश होकर मुझे दस रूपये देकर कहते हैं, दुआ दो। 'मैंने दस रूपये का नोट देते हुए कहा— मुझे दुआ मत दो।'*

अगर याददाश्त धोखा नहीं दे रही तो संभवतः रॉथ्स चाइल्ड अमरीकी अरबपति बैंकर ने अपनी जीवनी में भी कुछ इसी तरह की घटना का ज़िक्र किया है। एक दिन एक फटेहाल व्यक्ति, उसके आलीशान निवास स्थल के भीतर घुसकर ज़ोर ज़ोर से चिल्लाने लगा। 'मैं भूखा हूँ। मैं मर रहा हूँ कुछ करो कुछ दो। शोर सुनकर रॉथ्स चाइल्ड बाहर आया उस भिखारी की हालत पर तरस खाकर उसे पांच डालर देते हुए अरबपति बैंकर ने कहा 'तूने अगर शोर न मचाया होता तो निश्चय ही मैं तुझे बीस डालर देता।' भिखारी ने पांच डालर ले तो लिये मगर साथ ही जो कहा वह पठनीय है उसने कहा 'मान्यवर आप अपनी सलाह



अपने पास रखिये आप बैंकर हैं। मैंने तो कभी आपको आपके पेशे के बारे में कोई सलाह नहीं दी। आप होते कौन हैं मुझे सलाह देने वाले। अगर आप अपने धंधे में पारंगत हैं तो मैं भी कोई ऐसा वैसा भिखारी नहीं।' राथ्स चाइल्ड ने लिखा हैः 'उस दिन मुझे पता चला कि भिखारी का भी अपना अहं होता है।' विडम्बना, वक्रोक्ति, असंलक्ष्य क्रम, व्यंग्यध्वनि, विवशता अवसाद और विरक्ति 'मायालोक' में जगह जगह बिखरे पड़े हैं जहाँ हम गुत्थी न सुलझा पाने के कारण या तो भर्तृहरि की तरह ततः किम् कहकर आगे बढ़ जाते हैं अथवा फिर उन्हें अर्थहीन मानकर चुप रह जाते हैं मगर 'मायालोक' का लेखक भागता नहीं भिड़ जाता है उसमें अन्तः स्फोट (Implosion) होता है उसके पर्यवेक्षण में हर स्थिति मूल्यवान है। निरर्थकता या अर्थहीनता संयत ढंग पर अगर सोचा जाये तो, वह भी फिजूल नहीं अर्थहीनता की ठीक परिभाषा यह है कि जिसे समझ पाने का कोई पैमाना समझ के पास न हो अर्थात् जो समझ से परे हो उसे ही आलोचक गण इस तरह का विशेषण देते हैं। मगर इधर हाल में जब से प्रमात्रा भौतिकी ने दिक् को *'फेन से बने गलीचे'* की संज्ञा दी है पूरे दृग्विषय की परखने के प्रतिमान् ही बदल गये हैं। 'मायालोक' में पृष्ठ एक अनाख्य किस्म की आशाविहीनता और विरक्ति है— एक तरह का संताप जो विषादयोग से भिन्न है। ऐसा शायद इसलिये कि लेखक को पता है कि सारा का सारा अस्तित्व हम सबके होने न होने के प्रति उदासीन है। हम हैं तब भी, नहीं रहेंगे तब भी कहीं कुछ नहीं बदलेगा। सूर्य उसी तरह उदित होगा पृथ्वी उसी तरह घूमती चली जायेगी अभी जब हैं तब भी आकाश को, क्या पता है? धरती को क्या हमारे होने की खबर है? हमारे बाद भी जो जैसा जहाँ है सारा का सारा दृग्विषय उसी तरह कायम रहेगा। इसलिये हर संशयवादी को लगता है मैं सम्भवतः आकस्मिक हूँ मेरी कोई आवश्यकता नहीं थी मैं यों ही आ टपका हूँ, मैं एक सतत् व्यवधान हूँ। मायालोक का लेखक भी अवचेतन के तल पर, ऐसा ही कुछ सोचता और फिर खिलवाड़ी मुद्रा में कहता है- *"अपनी तदबीरों से मैं वैसे ही खेलता हूँ जैसे मेरी तकदीर मुझसे। तदबीर और तकदीर की तकरार का तमाशा मैं कई बार देख चुका हूँ। कहने को तो मैंने कह दिया 'मेरी तदबीर' 'मेरी तकदीर' लेकिन मैं जानता हूँ वह दरअसल मेरी नही। अगर तकदीर है तो तदबीर नही है, न होने के बराबर है तकदीर का ही खेल है। तदबीर के होने में तो मुझे हल्का सा विश्वास कभी कभी हो जाता है, तकदीर के होने से मैं न जाने क्यों इनकार करता हूँ.....मेरा भला है।''*

इस तरह का वर्णन जिन अनुशासन की प्रपत्तियों की याद दिलाता है। ऐसे कथन अथवा वाणी को हम सप्तभंगी कहते हैं। यह अपने यहाँ स्वीकृत वैखरी, मध्यमा, पश्यंती और परा वाणी से छिटककर अलग हुई परिभाषा है।

भाषा के मामले में, कृष्ण जी एक साथ सान्द्र, विवृत्त और बिंबाधायी हैं। वे एक ही स्ट्रोक में माया की सीमाहीनता को कुछ इस तरह व्याख्यायित कर देते हैंः

*ख़्वाहिश हुई उससे पूछूँ वह कौन थी उसने फिर मन की बात को भाप लिया और कहा :*
*'मैं एक नहीं अनेक हूँ'*
*उसकी आवाज़ में मुझे असंख्य आवाज़ें सुनाई दीं मैं समझ गया वह माया का ही एक रूप थी।*

'मायालोक' में माया कहीं स्थूल तो कहीं एकदम वायवी होकर लेखक को घेरे रहती है। कबीर तो कहा करते थे—

*'माया की झल जग जल्या कनक कांमिणी लागि*
*कहु धौ किहि विधि राखिये रूई लपेटी आगि।।'*

कृष्णजी में भी कबीर जैसा फकीराना अंदाज है सिर्फ़ कहीं कहीं व्यामोह की झलक उस अवचेतन से निसृत होती जान पड़ती है जिसकी विशद व्याख्या करते करते फ्रायड़ भी उसके झांसे में आ गया था। व्यामोह एक तरह से देखा जाये तो प्रामाणिकता का प्रतिधर्मा है। व्यामोह में व्यक्ति चाहता है कि अपने बीते हुए अनुभव को फिर से जी ले। यह जानते हुए भी कि इस संसार में सभी चाहें सिर्फ़ तभी पूरी हो सकती है जब बाकी सब चीजें ठहरी हुई हों। व्यामोह कई बार आदमी को वैसा होने के लिये विवश करता है जो वह नहीं है।

चरितार्थ होने के लिये भी *'माया'* को स्थूल जगत चाहिए। इसलिये कि कोई भी दृश्य दृश्य नहीं अगर देखने वाला न हो लेखक ने इसीलिए पृष्ट १०३ तक आते आते माया के ही साथ काया को भी रेखांकित किया है हालांकि इसी के समानान्तर हमें अष्टावक गीता में जनक के इस वाक्य को भी न भूलना होगा जहाँ जनक दृश्य दृष्टा दोनों को पीछे छोड़कर निरंजन हो लेते हैं और कहते हैं :-

ज्ञानं तेयं तथा ज्ञाता
त्रितयं नास्ति वास्तवम्।।

'सिफ़र सिफ़र सिफ़र' खण्ड में लेखक ने शायद जानबूझकर शून्य का प्रयोग नहीं किया। क्योंकि तब ध्यान, नागार्जुन के शून्यवाद की ओर जा सकता था। हालांकि नागार्जुन ने अपने प्रतीत्यसमुत्पाद में तथ्यसंवृति, मिथ्यासंवृति के भेद को स्पष्ट करते हुए जिसे निरस्वभाव कहा है और जो वाक्, काय तथा मनस् के द्वारा अगोचर है और जिसे नागार्जुन अनिर्वचनीय मानता है उसे शब्दायित करने में कृष्ण जी के सामने मुश्किल यह आती कि मायालोक को लिखा ही क्यों जाए? मगर एक सृजनशील व्यक्ति जिसने शब्द की महिमा जानी है और जो संसार में है उसके लिये शब्द ही उसके होने की पहली और आखिरी शर्त हैं। पूछे जाने पर लेखक अपना नाम भी यही बताता है; इसके पीछे भी गहरी व्यंग्योक्ति है यह वह मनोभूमि है जो मनोनाश के बाद ही किसी बिरले के हाथ लगती है। यह फक्कड़पन, किसी ज़माने में आजीवकों के पास हुआ करता था। गोरखवाणी में भी इसकी अनुगूंज मिलती है। सूफ़ियों की सी तर्ज़ेबयानी, सामान्य जीवन स्थितियों में यहाँ इस तरह संगुफित है कि कई बार यह तथ्य बिसर ही जाता है कि पढ़ने वाला गद्य पढ़ रहा है अथवा कोई नज़्म या सूफ़ियाना कलाम।

*'घर का रास्ता'* खंड में लेखक, किसी प्रभाववादी चित्र की शैली में कहता है:

*'न लौटने की ख़्वाहिश के बावजूद मैं फिर घर लौट रहा था क्योंकि शाम को सब भूले भटके घर लौट आते हैं या घर लौटने के लिए अकुलाने लगते हैं। मैं अकुलाए बगैर ही लौट रहा था, याद करता हुआ कि बचपन में भी शाम को इसी तरह इतना सा मुंह लेकर, अनमना सा घर लौटा करता था, लड़कपन में भी जवानी में भी... 'मैं घर लौट रहा था लेकिन रास्ता सही नहीं लगता था। यह भी साफ़ नहीं था कि मैं कहाँ था और किस घर लौट रहा था। घर लौटने के ख़्याल से वैसी घबराहट हुई जैसी किसी भगोड़े को होती है।'*

**घर** कृष्ण बलदेव वैद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सृजनध्रुव है। भारतीय चिन्तन के परिसर में इस शब्द का विशेष महत्व है।

घर संवेदना भी है और विश्रान्ति भीं वह जन्म, विकास, संघर्ष, नींद, स्वप्न, संकल्प, सुरक्षा, स्वास्थ्य, रोग, दुःख, उत्सव, प्रतीक्षा, वैभव, विपन्नता, अतीत, वर्तमान, जरा मरण आदि पता नहीं किन किन मानवीय स्थितियों का प्रतिनिधित्व करता है। वह चेतन अवचेतन दोनों को झकझोरता है। वह गति और ठहराव दोनों का सार्थवाह है। घर यह सतत चेतावनी भी देता रहता है कि घर यहाँ नहीं, घर कहीं और है।



जयशंकर

# दुपहर

मैंने रेस्तरां की खिड़की से उसे स्कूटर रखते हुए देखा। जहाँ वह स्कूटर खड़ी कर रहा था वहाँ फेंस थी और बारिश के बाद उग आयी जंगली झाड़ियाँ। रेस्तरां के काँच से हमारे शहर का बहुत पुराना गिरजाघर भी नजर आता था। एक हाथ में हैलमेट लिए हुए वह गुमठी की तरफ बढ़ गया। वह सिगरेट पीते हुए खड़ा था। मुझे लगा कि अब उसमें पुराने दिनों की अधीरता, प्रेम के दिनों की प्रतीक्षा, एक क़िस्म का उजला उतावलापन नहीं रहा है। उसने इत्मीनान के साथ इन्तज़ार करना सीख लिया है। यह समय का सच है। यही समय की सीख है। समय कभी हमें अधीरता से भर देता है तो वह कभी हमें धीरता देता है। गम्भीरता भी। मैं समय के बारे में सोच रही थी। वह सिगरेट पी रहा था। उसे ग्यारह बजे यहाँ आना था और इस वक्त साढ़े ग्यारह बज रहे है। वह पहले भी वक़्त पर कभी नहीं आता था।

'मुझे थोड़ी देर हो गयी' उसने बैठते हुए कहा।

'मैंने तुम्हारे आने की उम्मीद ही छोड़ दी थी।'

क्यों?

'फोन पर तुम्हारी आवाज में ज़रा-सी भी पहचान नहीं थी।'

'मैं कॉलेज के लिए निकल रहा था.....माँ को सुबह की टेबलेट देनी थी....मैंने सोचा कि तुम बम्बई से बोल रही हो.....'

यह सब चार साल पहले घटा होता तो वह कहता कि 'तुम इतने सन्देहों से क्यों घिरी रहती हो' या 'तुम किसी पर विश्वास करना कब शुरू करोगी' या 'किसी भी सम्बन्ध का आधार सन्देह हो ही नहीं सकता'। उसने सिगरेट सुलगायी और बैरे को बुलाया। उसने अपने लिए कटलेट और मेरे लिए फ्रेंच टोस्ट का आर्डर दिया।

'तुमने अभी-अभी सिगरेट पी है।'

'कॉलेज में पी नहीं पाता....घर में माँ की साँस की तकलीफ़ से पीना नहीं हो सकता....इसलिए बाहर ही पी लेता हूँ....बिटिया कैसी है.....'

'तुमने मेरे बारे में नहीं पूछा.....मेरी चिट्ठियों का जवाब नहीं दिया....सुबह फोन पर भी अजनबी सा व्यवहार था...क्या मुझसे इतना ज्यादा नाराज़ हो.....।'

वह धीरे-धीरे मुस्कुराने लगा। शायद उसे पिछला कुछ याद आया होगा। पुराने दिनों की कोई बात। हमारे

प्रेम के दिनों की कोई पीड़ा। उन बरसों का कोई सवाल या सन्ताप या सुख।

'तुम्हारी चिट्ठियाँ मिलती रही थी....समझ में नहीं आता था कि क्या उत्तर लिखना चाहिए...'

'यही बात लिख सकते थे...खैर...तुम्हारे क्या हाल है?'

'बाबा के गुजरते ही माँ की बीमारी शुरू हो गयी...अब बिस्तर पर ही रहती हैं....आजकल शाम का खाना मैं ही बनाता हूँ।'

'क्या बात है...आज रात का खाना तुम्हारे यहाँ ही खाऊँगी।'

'कबीर और बिटिया को भी ले आना'

'मैं अकेली ही आयी हूँ।'

उसके कटलेट खाते हुए हाथ रुक गये। वह बहुत जल्दी ही बहुत ज़्यादा घबरा जाता था। छोटी - छोटी, मामूली बातें भी उसकी बेचैनी को बढ़ा जाती थी। वह अब भी शायद उतना ही सहमा सा, डरा-डरा सा रहता है। पिछले बरसों में उसका गेहुँआ रंग थोड़ा-सा उड़ गया है। उसके बाल झरने लगे हैं। उसने इस बारिश में पैंतीस साल पार किये है। अब उसकी आवाज़ बीच-बीच में टूट जाती है।

'तुम शायद अचानक आ गयी'

'अब मैं यहीं रहूँगी....बिटिया को लाने के लिए एक बार बम्बई जाऊँगी....'

'तुम लोगों ने अलग हो जाने का फैसला कर लिया है'

'मैंने कर लिया है....कबीर नहीं चाहते हैं....बिटिया के बड़े होने तक रुकने की कह रहे हैं....'

'क्या दूसरा कोई रास्ता नहीं बचा है ?'

'मैं रास्तों के ही बारे में सोचती रही थी.....तुम्हारे सुझाव भी माँगे थे....तुमने पत्रों का जवाब ही नहीं दिया।

'तुम्हारे भैया क्या कहते हैं?'

'उनका कहना है कि मुझे धीरज रखना चाहिए..और कोशिश करना चाहिए....पर मैं थक गयी हूँ....मुझसे और ज्यादा सहा नहीं जाता....तुम्हें क्या लगता है।'

'तुम्हारे अपने फैसले का ही अर्थ है....दूसरे लोग तुम्हारी तकलीफ़ को कितना समझ पायेंगे.....'

'तुम मेरे लिए दूसरे नहीं हो।'

मेरी इस बात को सुनते ही उसने पहली बार मेरी तरफ इतनी देर तक देखा। इन निगाहों में पुरानी पहचान का प्रकाश था। पुराने दिनों की याद से बाहर आती आत्मीयता और अवसाद। पहचान के वे पल कुछ क्षणों तक ही रहे। पुराने और पहले प्रेम का प्रकाश खोने लगा।

'मैं अच्छी तरह जान चुका हूँ कि तुम्हारे लिए मैं कौन हूँ....'



'मैं जानती हूँ कि तुम मुझसे बहुत ज्यादा नाराज हो—'

'मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है.....मुझे अपने आप पर गुस्सा आता है....अपने इतने ज्यादा सेंटीमेंटल होने से चिढ़ होती है.....'

'मुझसे भूल हुयी थी...लेकिन उस वक्त तुम भी खामोश खड़े रहे...तुम्हें कुछ तो कहना चाहिए था....उस वक्त की तुम्हारी चुप्पी....तुम्हारी उदासीनता ने ही मुझे वैसा फैसला लेने पर मजबूर किया था.....'

'अब इन बातों का क्या अर्थ है.....'

'मेरे लिए है....मैं इस वक्त और किसके पास मदद के लिए जाऊँगी....'

'मैं तुम्हारी क्या मदद कर सकता हूँ'

'हम लोग पहले की तरह दुःख-सुख तो बाँट सकते हैं.....'

'मैंने बड़ी मुश्किल से अपने आपको उन दिनों से बाहर निकाला है....सिर्फ़ मैं जानता हूँ उस वक्त की अपनी पीड़ा को.....'

वह धीरे-धीरे धीमी आवाज़ में, अपने उन दिनों के बारे में बताने लगा जो उसने मेरे विवाह हो जाने, बम्बई चले जाने के बाद गुजारे थे। वे उसके अवसाद से भरे हुए, असहनीय और अराजक दिन थे। उसे अधूरा और अकेला करते हुए भयावह और कठिन दिन।

'तुम बोलते-बोलते रुक क्यों गये?'

'उन दिनों को याद करने से भी तकलीफ़ होती है....फिर अब वहाँ लौटने की ज़रूरत भी क्या है..... अब उन सब बातों का क्या मतलब है.....'

'मेरे लिए है।'

'इससे तुम्हारी भी परेशानियाँ बढ़ेंगी....वैसे ही तुम कम तकलीफ़ें नहीं झेल रही हो।'

'ऐसा सोचते हो तो मेरी मदद क्यों नहीं करना चाहते।'

'तुम्हारा बहुत नाज़ुक मामला है.....तुम्हारे सामने पूरी ज़िन्दगी पड़ी है.....फिर बिटिया का क्या होगा.....'

'इसलिए मुझे बम्बई लौट जाना चाहिए...दिन-रात रोते-रोते गुजारना चाहिए...सब कुछ सहना चाहिए...'

'तुम्हें क्या करना चाहिए तुमसे ज्यादा कौन जानेगा....तुमने हमेशा सोचा है.....तुम्हें अभी भी सोचना चाहिए....'

'लेकिन तुम मेरी तकलीफ़ों के बारे में कुछ नहीं सोचना चाहते।'

'कभी सिर्फ़ तुम्हारे बारे में ही सोचा करता था....उससे क्या मिला...मैं किसी पर भी भरोसा करने के काबिल नहीं रहा....मैं बुरी तरह टूट गया.....'

'क्या मैं नहीं समझती कि तुमने कितना सहा है....क्या मैं खुद सुखी रही हूँ.....'

'उन दिनों न जाने तुम पर कौन सा पागलपन सवार था.....'

'कभी-कभी आदमी भटक जाता है....वह सब कुछ भूल जाता है....और यह भी तो जीवन ही है....मैंने तुम्हें पत्रों में कितना कुछ लिखा था....तुमने एक भी चिट्ठी का जवाब नहीं दिया.....'

'मैं क्या लिखता।'

'वह सब जो तुम्हारे मन में आता था।'

'उससे तुम्हें दुःख मिलता।'

'और तुम्हारे न लिखने से क्या हुआ।'

मुझे याद आया कि मैं कितनी व्याकुलता के साथ अपने विषाद के बीचोंबीच खड़ी उसकी चिट्ठियों के लिए पोस्टमैन की प्रतीक्षा किया करती थी। पोस्टमैन हमारे घर की दहलीज़ तक आता भी था लेकिन उसके हाथ में कबीर के लिए पत्रिकाएँ रहती, कबीर के लिए चिट्ठियाँ । कभी-कभार मेरे लिए भैया की चिट्ठी आती और उसमें भगवान पर भरोसा रखने, धीरता से काम लेने जैसी पुरानी, परिचित और पुरखों से चली आ रही हिदायतों का ज़िक्र रहता।

'तुम भी यही सोचते हो कि मुझे समझौता करना चाहिए...सहनशीलता से काम लेना चाहिए....'

'मैंने कहा न कि यह तुम्हें ही सोचना है और तुम्हारे ही सोचने का अर्थ भी है.....'

मैं उसकी संशय और संताप में डूबी आधी-अधूरी, टूटी-बिखरी बातों को उसकी लड़ती-झगड़ती आवाज में सुनती रही। उसकी बनती-बिगड़ती बातों से मुझे हमारे कॉलेज के दिनों के प्रेम और उसके पागलपन के दिनों की लम्बी बातचीत और बहसों की दुपहरों की यादें घेरने लगी। इस वक्त चार-पाँच बरसों पहले बीते वे दिन ही मुझे कितने ज्यादा पुराने कितने ज्यादा प्रौढ़ और कितने ज्यादा पराये महसूस हो रहे हैं।

'मैं सोचती हूँ कि हमें कोशिश करनी चाहिए।'

'कैसी कोशिश' वह चौंक गया।

'हमारे बीच के पुराने दिनों को लौटाने के लिए.....'

'अब वे दिन कभी नहीं लौटेंगे....'

'यह सब हमारी कोशिशों पर निर्भर करेगा।'

'फिर भी वे दिन उसी तरह नहीं लौट सकते.....न तुम वैसी रह गयी हो और न मैं....हमारे आसपास का भी बहुत कुछ बदल गया है....'

'शायद तुम ठीक कह रहे हो....हमारे बाहर और भीतर का बहुत कुछ बुरी तरह बदल गया है।'

'वैसे भी अतीत वर्तमान की धूल में लिथड़ा हुआ लौटता है....'

'तुम्हें याद है जब तुमने वर्ज़िनिया वुल्फ़ के उस उपन्यास को पहली बार पढ़ा था.....'



वह बारिश की दुपहर थी। हम दोनों रिडिंग रूम से बाहर निकल कर लाइब्रेरी के गलियारे में खड़े थे। वह उस उपन्यास के कुछ अद्भुत और युवा पात्रों के बारे में, उसके लिखे जाने की निराली शैली के बारे में कहता रहा था। उस समय हम दोनों ही तरह-तरह की पुस्तकें पढ़ा करते थे। उन पुस्तकों पर बातचीत किया करते थे। मैंने बहुत दिनों से कुछ भी नहीं पढ़ा है। वह शायद अब भी उसी तरह पढ़ता रहता होगा।

'आजकल क्या पढ़ रहे हो?'

'बीच-बीच में माँ को महाभारत पढ़कर सुनाता रहा हूँ....शाम को ही वक्त मिलता है..

.....मैं बहुत धीरे-धीरे पढ़ने लगा हूँ।'

'तुम धीरे-धीरे ही बोलने भी लगे हो।'

'अब किसी से वैसी बातचीत कहाँ होती है....तुम थीं तो वक्त का पता ही नहीं चलता था।'

'अब सब वैसा ही होने लगेगा....मैंने वहाँ की सेकेंड हैंड किताबों की दुकान से कुछ अच्छी किताबें खरीदी है....फुटपाथ की उन दुकानों के बीच तुम्हारी यादें बनी रहती थीं....'

'पहली बार हम लाइब्रेरी ही में मिले थे— तुम लेवीस्त्रॉस की पुस्तक लौटा रही थी ।'

'और तुमने सोचा होगा कि यह कौन बेवकूफ लड़की है जो लेवीस्त्रॉस को पढ़ रही है।'

'तब मैं लेवीस्त्रास को जानता भी नहीं था....तुम्हारे बारे में थोड़ा-बहुत मालूम था...हमारे सोशियोलॉजी के टीचर तुम्हारी प्रशंसा किया करते थे.....'

'वे बाबा के दोस्त थे...कभी-कभी घर आते थे...

....उन्होंने ही मुझे इंग्लिश लिटरेचर लेने के लिए कहा था...'

'लिटरेचर मेरा विषय न होता तो हमारी कभी मुलाकात ही नहीं होती.....तुम बहुत सीरियस और ब्रिलियंट थी.....मैं शुरूआत में तुमसे डरता था.....'

'तुम अब भी मुझसे डरते हो?'

वह हँस रहा था। हमारे बीच तनाव का तापमान कम हो रहा था। मेरी तकलीफ़ घटने लगी। मेरी तसल्ली बढ़ने लगी।

बैरा हमारे लिए कोल्ड कॉफी के गिलास रख गया। वह रुमाल से अपना चश्मा साफ करने लगा। गिरजे पर सितम्बर की धूप चढ़ रही थी। .....

.....सितम्बर की इस दुपहर में मैं अपने छूटे हुए, बिखरे हुए जीवन को समेटना चाह रही थी। मैं अपनी जिन्दगी को पकड़ना, उसकी सम्भावनाओं को छूना चाह रही थी। जीने की तरफ लौटने, अपनी तरफ मुड़ने की गहरी लालसा को मैंने अपने भीतर जन्म लेते हुए महसूस किया।

मैं एक और दोस्ताना दुपहर के बीच, हमारी पुरानी और परिचित दुपहरों को जीने लगी थी। मेरे भीतर जीवन लौट रहा था। मेरे बाहर जीवन दौड़ रहा था। मैं खुद को पढ़ रही थी। मैं स्वयं को गढ़ रही थी।

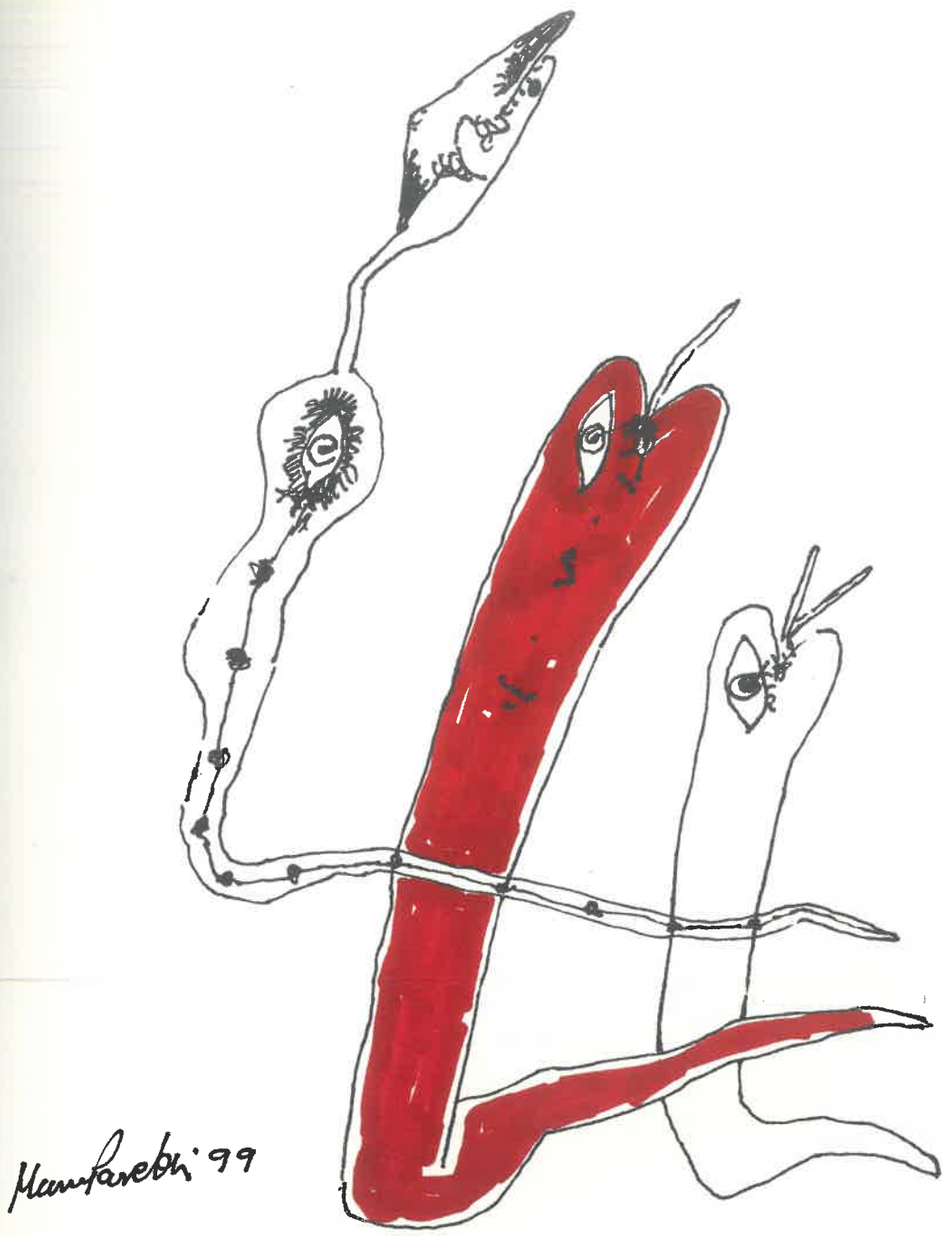

## अनौपचारिकः

(I) डायरी :

जैनेन्द्र कुमार

(II) प्रसंगवश :

(क) रामस्वरूप चतुर्वेदी

*इलाहाबाद का साहित्यिक चरित्र*

(ख) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

*निज की अनुपस्थिति*

(ग) अनुपम मिश्र

*भाषा और पर्यावरण*

(घ) नाग बोडस

*मुकाम पोस्ट विटगेंश्टाईन*

(ङ) ध्रुव शुक्ल

*महात्मा गांधीः चरित स्वयं ही काव्य*

जैनेन्द्र कुमार

# डायरी से

जैनेन्द्र जी की हस्त-लिखित डायरी से लिए गये इन पन्नों को हम जस-का-तस छाप रहे है। इन पृष्ठों को उपलब्ध करवाने के लिए हम श्री प्रदीप कुमार के आभारी है— सम्पादक

३-४-५२

आज शुरू करता हूं. १ जनवरी को शुरू करना था. प्रमाद, प्रमाद, प्रमाद. हालत बेहद गिरती जा रही है. ये तीन महीने कैसे बीते? शुद्ध नरक. दिन पर दिन टलते गए. चिंता सिर पर सवार रही और हाथ का काम छूटता गया. चिंता नास्तिकता है. जैनेंद्र, क्या तू आस्तिक है? तू था? आस्तिक? फिर यह तेरा क्या हाल है? संसार को पकड़ता है! यह किसी की पकड़ में आया है? क्या वह यथार्थ है? फिर भगवान क्या हुआ जिसे तू माना करता था? इन दिनों में क्या वह तेरे मन में रहा है? इससे वृथा ही तू लहूलुहान हुआ है. ऐसे हाथ कुछ नहीं आया है, न आयगा. जैनेंद्र, सावधान, सावधान. तू नहीं संभला तो बर्बादी का मुंह सामने है. वक़्त है कि तू संभले. बच्चे तेरे साथ हैं, ज़िम्मेदारी है. आसानी से तू डूब नहीं सकता. तू अपना नहीं है. अरे भगवान का होने का प्रयास कर यानी सबका. वक़्त भगवान का भेजा तेरे पास है. मिनट-मिनट की कीमत है. उसे वृथा सपनों में न गंवा, न लपकने में. भगवान की आस्था को तू भीतर मानता है, उसी को बाहर कर. और यही काम अपना बना. बाक़ी सब प्रपंच भूल और छोड़, देता चल, उडेलता चल. रुक मत, चुक मत.

परिवार तेरा नहीं है? तू अपना नहीं है, इससे कोई तेरा नहीं है, अपने को अपने हाथ में ले, देखेगा कि सब तेरे साथ हैं और तेरे हैं. बाधक नहीं, सहायक हैंः भगवती कितना कष्ट उठा रही है. कितने धैर्य से काम में लगी रहती है. यह नहीं देखता और कभी बिचारी खीझ में कुछ कह जाती है उस पर जाता है। दिलीप के कष्ट को देख, उसके क्रोध को नहींः उसे साथ ले पूरे विश्वास के साथ तो वह तेरे साथ ही है.

अब काम में हाथ लगा। काम, यानी अपने भीतर की आस्था को, अभिलाषा को मूर्त कर. वाणी में, शब्द में, कर्म में.

बाहर की जो चुनौती मिलती है, ले. उसके जवाब में अपनी निष्ठा दे. खो न जा, बौखला मत. शांत और स्वस्थ रह और अपने से भाग मत. कह और लिख और कर वह जो तू मानता है.

इसमें तू पायगा. अपने को और उसी में से सबको.

यह आज का लिखने का सिलसिला जारी हुआ तो देख, तोड़ना नहीं. आत्मा का और संसार का दोनों का हिसाब इसमें दर्ज कर. दोनों में तू दीवालिया है. इस बात को खुल कर पहचान लेगा तो साहूकार होते देर क्या लगती है. सत्य का सदा साथ रख. आस न खो. भगवान अशरणशरण है. मैल पास न ले. झूठ मैल में से है और मैल बढ़ाता है. उसका कभी सहारा न ले.

जो मामले उलझे पड़े हैं उनमें तत्पर हो. इन आठ-दस वर्षों की निश्चेष्टता में ज़िंदगी के तार आपस में बुरी तरह उलझ गये हैं. एक-एक बट खोलता जा. ऐसे धीरे-धीरे सब सुलझ जायगा और तू आज़ाद होगा. आवश्यक है कि आगे अब उसमें बैर न डाल. एक-एक तार ले और उन्हें धीमे हाथ से सुलझाता जा. झुझला मत, न बाहर के प्रति रीझ या खीझ. शांत और धीर, प्राप्त और प्रस्तुत के प्रति जगा रह और अपने को पूरी तरह उन्हें देता रह.

दुनिया भगवान ने सबको दी है कि इसी में से अपनी मोक्ष बनाएं. सूत्र परखा हुआ एक है: अपने प्रति सत्य, दूसरे के प्रति आदर. इस सत्य-अहिंसा की अमोघ नीति से तू सब बंधन काट सकेगा और उलझनें खोल सकेगा.

आगे से :

सवेरे ४॥ उठना. डायरी, घूमना. रहना और सोना इसी मकान में, जब तक यह है. धर्मयुग को दिया आश्वासन अवश्य पूरा करना होगा. 'विवर्त' आदि भी निपटाने हैं. रात ९ से ११ तक खुद लिखने का काम करना चाहिए.

१४/४

तबका छूटा रजिस्टर आज हाथ में लिया. धिक्कार! जैनेंद्र, प्रायश्चित कर. अपनी ताड़ना से ही तू चेतेगा और चेता रहेगा. अन्यथा ऊंघता रहेगा और रसातल में धंसता जायगा.

प्रायश्चित्त : ७ दिन तक एकाशन. १४ ता. से २० तक.

कल जयचंद लाल दफ्तर आए. वचन पूरा करने को कह गए हैं १५ दिन के भीतर. मिश्री लाल गंगवाल भी आश्वासन दे गए हैं. बीस हज़ार.

दिलीप की बात ठीक ही है कि अर्थव्यवस्था समय पर होती रहेगी, लिखना उस पर क्यों स्थगित रहे. लिखना जारी रहना चाहिए.

दिलीप असहयोग पर आमादा हैं. जैनेंद्र, दोष इसमें तुम्हारा है. दिलीप काम के लिए उद्यत है. तू जी चुराता है. तत्पर हो, नहीं तो देखता नहीं कि सबको लेकर डूबा जा रहा है.

सर्वोदय का कल अधिवेशन हुआ होगा. आज भी है. तू उस संबंध में अपना क्या कर्तव्य मानता



है? चर्ख़ा फ़ौरन शुरू कर देना चाहिए. हाथ से चर्ख़ा, बुद्धि-वाणी-लेखन से नैतिक दृष्टि का प्रकाशन और प्रतिपादन. यही तेरा काम. नैतिक से हीन आर्थिक विग्रहकारक यानी हिंसात्मक है. नैतिक के आधार पर आर्थिक योजना आश्वासन देगी और स्फूर्ति लायगी. इसमें लगना है.

तुलसी जी के लिए तेरे मन में आदर है न? फिर वृथा विचार मन में न ले. शायद उनका स्वार्थ से संबंध हो. उनके अणुव्रती आंदोलन को बल पहुंचना चाहिए. एक तरह यह अच्छा है कि राजनीतिक पुरुष उधर आकृष्ट नहीं हैं. आवश्यकता हो तो सुजानगढ़ जाना चाहिए.

चिंता! चिंता का मुंह सदा बाहर है। बाहर के प्रति जूझना रुक जाना है, कामना-निराशा रह रह कर स्थान लेती है. जुटा रह, बस बाहर सब ठीक होगा. यही क्या आश्वासन न है तो कृष्ण ने सब काल में सब लोगों के लिए गीता में दे दिया. 'योग क्षेम वहाम्यहम्!'

इसमें तत्पर हो. सावधान, प्रार्थनामय, स्फूर्त और उद्यमशील. इधर-उधर मत भटक. अपने में निष्ठ होकर बैठ. भगवान के भेजे समय समय और व्यक्ति के साथ न्याय करता चल. ऐसे तरेगा और औरों को तारने में भी सहायक होगा.

रामस्वरूप चतुर्वेदी

# इलाहाबाद का साहित्यिक चरित्र

जहाँ तक बात इलाहाबाद के साहित्यिक एवं राजनैतिक परिवेश की है — आप देखेंगे यहाँ के इतिहास में एक प्रकार की बौद्धिक सम्पन्नता है, रचनात्मकता को बौद्धिक अभिनिवेश से सम्पन्न करने वाला इलाहाबाद का वातावरण है। *'सरस्वती'* पत्रिका का कई बार यहाँ उल्लेख हुआ, आपको याद होगा, यह संयोग नहीं कि *'सरस्वती'* पत्रिका काशी से आरम्भ हुयी थी, सम्पादक-मण्डल काशी में था— बाबू श्यामसुन्दर दास के अधीन। लेकिन दो वर्ष वहाँ रहने के बाद वह इलाहाबाद आ गयी। *'सरस्वती'* पत्रिका एक प्रकार से पूरे हिन्दी साहित्य के बौद्धिक वातावरण की अभिव्यक्ति थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी को इस बात का श्रेय है कि साहित्य के क्षेत्र में, भीतर और बाहर के वातावरण में, उन्होंने हिन्दी को पूरा बहिर्मुख बनाया और साहित्य को अन्तरकृत किया, बौद्धिक स्तर पर। छायावाद युग को आप देखें। छायावाद की शुरुआत काशी में है — जयशंकर प्रसाद ज्येष्ठ कवि हैं, आदि कवि है; क्रम की दृष्टि से और काव्य-संग्रह की दृष्टि से। उनका *'झरना'* १९१८ में प्रकाशित हुआ। रामचन्द्र शुक्ल अपने *'हिन्दी साहित्य के इतिहास'* में उन्हें ज्येष्ठ मानते है, महत्त्व देते हैं, लेकिन फिर मानते यह हैं कि छायावाद की शुरुआत पन्त से हुयी। छायावाद का प्रतिनिधि कवि वे पन्त को मानते हैं, क्यों? *'झरना'* ठीक है कि वह १९१८ में छपता है और पन्त का *'पल्लव'* आता है — १९२६ ई. में। लेकिन *'पल्लव'* के साथ *'पल्लव'* की भूमिका भी देखिए। वे गहराई में जाकर छायावाद के काल का निर्धारण करते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने, पूरे विस्तार में जाकर दिखाया, बड़ी कुशलता के साथ कि १९१८ ई. में *'झरना'* छपा अवश्य पर, उस की भूमिका में आपको याद होगा — केवल दो तीन पंक्तियों का आत्म-निवेदन है जिसमें यह तो कहा गया कि हिन्दी-साहित्य में आज जिसे छायावाद कहा जा रहा है — उसकी शुरुआत इसी संग्रह की कविताओं से है। चार पंक्तियों का प्रकाशकीय निवेदन है और दावा है कि छायावाद का आरम्भ प्रसाद से है। रामचन्द्र शुक्ल कहते हैं *'झरना'* का दूसरा संस्करण १९२७ ई. में हुआ तब जाकर उसका वास्तविक रूप स्थिर हुआ। इस संस्करण में अच्छी कविताएँ हैं। १९२६ ई. में *'पल्लव'* प्रकाशित हुआ। *'धूमधाम'* से। शुक्ल जी की शब्दावली है *'धूमधाम'* से, तो उनकी दृष्टि में *'पल्लव'* पहला ग्रन्थ हुआ। इस प्रकार एक पूरा बौद्धिक वातावरण यहाँ से वहाँ तक बन जाता है। तो प्रसाद आयु क्रम में जेठे हैं — संग्रह पहले आता है, लेकिन छायावाद का पूरा बौद्धिक वातावरण इस इलाहाबाद से जुड़ा हुआ है।

इसी प्रकार से आप देखेंगे कि १९३६ से १९४० के आस-पास एक दौर शुरू होता है — प्रगतिशील लेखक संघ बनाम *'परिमल'* का। उसकी शुरुआत के दिनों में काफी विवाद का दौर चलता है। प्रगतिशील लेखक संघ की और *'परिमल'* की मान्यताओं में एक बुनियादी अन्तर यह कि संघ की दृष्टि में रचनाकार का पक्ष पहले से दिया गया है और लेखक को उस पक्ष का वरण करना है, चुनना है। क्योंकि एक *'विचारधारा'* जो मार्क्सवाद के लिए यूफ़िमिज़्म था, वह एक प्रकार की विचारधारा भी वही है जो आपको



चुनना है। *'परिमल'* के लेखक मानते थे रचनाकार अपना पक्ष स्वयं बनाये, वह इतना समर्थ है कि उसे बने-बनाये, पहले से दिए हुए पक्ष पर चलने की जरूरत नहीं है। वह चाहे तुलसीदास हों, चाहे निराला हों, चाहे पन्त हों, चाहे महादेवी हों — रचना में अपना पक्ष रखते हैं।

एक रोचक बात आपको याद होगी कि प्रगतिशील लेखक संघ का पहला अधिवेशन १९३६ में लखनऊ में हुआ। प्रेमचन्द उसके सभापति थे। एक तरह से यह उनकी वसीयत और अन्तिम वक्तव्य था। १९३६ के बाद उनकी मृत्यु हो जाती है। उनका दो टूक वाक्य याद होगा — *'साहित्य राजनीति के आगे चलने वाली मशाल दिखाती हुई सच्चाई है, पीछे चलने वाली नहीं।'* यहाँ वे दोनों तरह के वाक्य-विन्यास बरतते हैं। आगे चलनेवाली है, पीछे चलनेवाली नहीं। तो कभी-कभी बड़ा रोचक लगता है कि *'परिमल'* की मान्यता, जो प्रेमचन्द कह रहे हैं, वह है, और प्रेमचन्द की खड़ाऊँ लेकर बैठे हैं जो प्रगतिशील लेखक संघ में है। १९३६ ई. से लेकर जो खड़ाऊँ उन्होंने पकड़ी है उसका प्रेमचन्द ने एक-एक करके खण्डन किया, और १९३६ के सज़्ज़ाद जहीर को असंगत सिद्ध किया। तो इस तरह का विचित्र विरोधाभास वहाँ है। लेकिन विचित्र बात हैं कि उनका फाउंडर जो बात कर रहा है। ठीक उसी का उल्लंघन कर रहे हैं प्रगतिशील लेखक संघ के लोग। *'परिमल'* के लेखक वही बात मान रहे हैं जो प्रेमचन्द ने अपने लास्ट टेस्टामेंट में कही है या कह रहे हैं, और प्रगतिशील लेखक संघ का दावा है, अभी कुछ दिन हुए प्रेमचन्द का जिसे उन्होंने विरसा कहा कि वह तो हमीं को मिला है, वह विरसा हमारी सम्पत्ति है। आप चाहे जो कहें। इसीलिए हमने कहा खड़ाऊँ उनकी है, विचारधारा हमारी है।

राजनीति के प्रसंग से आप देखेंगे कि इलाहाबाद एक प्रकार से राजनैतिक केन्द्र बहुत पहले से रहा है और वह कलकत्ता के बाद प्रमुख नगर हैं। आपको याद होगा, जिसे पश्चिमोत्तर प्रान्त कहा गया उसकी राजधानी थी— इलाहाबाद। दूसरी ओर आगे चलकर ए.आई.सी.सी. का मुख्यालय बना। पर यहाँ के लेखक राजनीति के सीधे रूप में कभी नहीं आये। न पन्त, न निराला, न कोई लेखक। यहाँ का कोई लेखक ऐसा नहीं है जिसने राजनीति का संघर्ष न देखा हो। इसके लिए उन्होंने पत्रकारिता का वरण किया। *अकबर इलाहाबादी*, जो इलाहाबाद की दिव्य विभूति हैं, यहाँ उन्होंने कहा— *'जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।'* भई अँग्रेजों से लड़ना है, तो अखबार निकालो। यह अकबर इलाहाबादी का सूत्र है। रचना से, साहित्य से, हमें वह लड़ाई नहीं लड़नी है। राजनीति के लिए पत्रकारिता से रिश्ता बनता है।

मैं *निराला* के दो-तीन छोटे संस्मरण बताना चाहता हूँ। निराला के तीन संस्मरण हैं — एक है राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन के बारे में, एक है जवाहर लाल नेहरू के बारे में, और एक है महात्मा गांधी के बारे में। इस क्रम में या ऑर्डर में मैं चल रहा हूँ। पर आपको आश्चर्य लगेगा कि हिन्दी में ऐसा कोई लेखक था जो ऐसी बात कह सकता हो। ये उद्धरण स्वयं उन्हीं के निबन्ध-संग्रह *'प्रबन्ध प्रतिमा'* से लिए गये हैं। आप चाहें तो देख सकते हैं। कुछ मेरी ओर से मढ़े या गढ़े नहीं हैं। अब एक-एक करके संस्मरण—

**राजर्षि टण्डन** — *'टण्डनजी का पारा बहुत चढ़ गया था। एक तो राज-नीति और साहित्य के विवेचन में घिसट-घिसट कर रह गये थे। वे राजनीतिज्ञ थे, साहित्य के प्रेमी नहीं। वे कुशल राजनीतिज्ञ थे — इसलिए राजनीति को उन्होंने प्रधान बनाया।'* चर्चा चल रही है — *'सम्मेलन'* के पाठ्यक्रमों के बारे में। *'मैंने सोचा एक नीति और पेश की जाये तो इसे टण्डन जी कहाँ स्थान देते हैं, मैंने कहा, फिर धर्मशास्त्र को कहाँ जगह मिलेगी? याद रहे, धर्मशास्त्र को मैंने इसलिए पेश किया कि टण्डनजी ने साहित्य के वृहत् अर्थ में साहित्य को नहीं, वरन् साहित्य को राजनीति से नीचा करके भिन्न अर्थ दिया। टण्डनजी ने धर्मशास्त्र के लिए यह तीसरी जगह तैयार की और क्रम ऐसा रहा जैसे सिर हो राजनीति, हृदय धर्मशास्त्र और उपस्थ साहित्य।'* यह निराला लिख रहे हैं, यह निराला का ही

उद्धरण है। जिस पुस्तक में यह उद्धरण है वह पुस्तक राजर्षि को ही समर्पित है। वे राजर्षि टण्डन के बड़े प्रशंसक थे। इसलिए प्रशंसक थे कि वे गांधी जी से लड़ते थे। साहित्य में उनकी समझ नहीं थी। साहित्य और राजनीति में क्या सम्बन्ध है इसे जिस रूप में वे चाहते थे— उसे निराला नहीं चाहते थे—वहाँ उन्होंने बिल्कुल स्पष्ट रूप से लिख दिया।

अब आइये **जवाहरलाल नेहरू–** यह उस समय की बात है जब देश में इन नेताओं की बात लोग आँख बन्द कर मानते थे। जवाहरलाल बनारस आये थे। लेखकों की बैठक हुयी थी। उस लेखकों की बैठक में जवाहरलाल जी ने कहा — *'हिन्दी में क्या साहित्य लिखा जा रहा है? सिर्फ़ दरबारी कविता लिखी जा रही है, दरबारी साहित्य लिखा जा रहा है'*— यह सन्दर्भ है। निराला जी जवाहरलाल से इंटरव्यू लेते हैं प्रश्न करते हैं, बोल रहे हैं—

*'बनारस के साहित्यिकों की मण्डली में आपने जिन लेखकों का उल्लेख किया था, उसमें से तीन को मैं जानता हूँ—वे अपने-अपने विषय के प्रवर्तक हैं। प्रसादजी काव्य और नाटक-साहित्य के अधिकारी हैं, प्रेमचन्द कथा-साहित्य के और रामचन्द्र शुक्ल आलोचना-साहित्य के।'* अगर आपने *'दिनमान'* देखा हो उसका पुराना अंक, तो राय कृष्णदास ने एक संस्मरण में एक जगह लिखा है—एक फोटोग्राफ़ भी साथ है : जवाहरलालजी और कमलाजी बैठी हुयी हैं, दोनों ओर साहित्यिकों की मण्डली है बनारस की। जिसमें शुक्लजी की मूँछे और प्रसाद जी का कुर्त्ता बहुत स्पष्ट दिखाई देगा। आप ही समझिये कि इनके बीच आपका दरबारी चिन्तन का विषय जिसका उल्लेख आपने किया, वह साहित्य कितना हास्यास्पद हो सकता है। आपके सम्मान के लिए उन्होंने आपको वहाँ बुलाया था—इसलिए आपका विरोध नहीं किया। यहाँ बनारस का वर्णन है, मामला बनारस का है, इलाहाबाद का कवि समझा रहा है। देखिए बदतमीजी की बात कुछ नहीं हुयी, क्योंकि वे सब आपके मेज़बान हैं—वरना इस बात का जवाब और तरीके से दिया जा सकता है।

अब आइये **बापू गांधी के बारे में**—क्या बातचीत हुई—गांधी से इंटरव्यू लेने के लिए, समय लेकर निराला पहुँचे—बातचीत होने के बाद वे (बातचीत से) बिल्कुल असन्तुष्ट रहे। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का प्रसंग था, कुछ और बातें थीं। गांधीजी ने कहा—*हिन्दी-साहित्य बहुत उथला है;* निराला ने कहा—*'आपने कुछ पढ़ा है, यह आपने कैसे कह दिया? मैं बंग्ला जानता हूँ, बंग्ला मेरी प्रथम भाषा है इत्यादि।'* अब उसका निष्कर्ष बताते हैं—*'मैं हैरान होकर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति को देखता हूँ जो राजनीतिक रूप से देश के नेताओं को रास्ता बताता है, बेमतलब घण्टों पहरों तक तकली चलाता है, (बेमतलब पहरों) प्रार्थना में मुरदे गाने सुनता है,* (ऐसी रद्दी डिम-डिम आवाज। किसमें इतना साहस है कि बापू की प्रार्थना सभा के बारे में ऐसा लिख सके कि *'मुरदे गाने सुनता है')— और हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति है लेकिन हिन्दी के कवि को आधे घण्टे समय नहं देता।'* निराला जी मिलने गये थे। *'सामने तर्क करना चाहा तो इधर-उधर की बातें करता है।'* यह बापू के बारे में निराला लिखते हैं। यह निराला का और उस पूरे वातावरण का रूप है जिसके एक प्रतीक है अमरनाथ झा, जो अंग्रेज़ियत वाले हैं। दूसरा पक्ष है निराला का और फ़िराक़ गोरखपुरी का। निराला प्रगतिशील लेखक संघ के बारे में लिखते हैं—यहाँ फिर कहना चाहूँगा कि निराला का बिल्कुल आरम्भिक जीवन लखनऊ में बीता, उनका पहला संग्रह *'परिमल'* लखनऊ से प्रकाशित हुआ। लेकिन वे मानते हैं अपने को इलाहाबाद का। १९३६ में वे पत्र लिख रहे हैं रामलिवास शर्मा को। उसकी आयरनी भी आप देखिए—डॉ. शर्मा चोटी के प्रगतिशील आलोचक हैं, आगे चलकर जो निराला के जीवनीकार हैं—उनकी पंक्ति उद्धृत कर रहा हूँ तीसरे भाग अर्थात् पत्रावली से नवम्बर में लिखा है, इस बीच मई-जून में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हो रही है, उसके कुछ ही महीने बाद वह कार्यक्रम आयोजित हुआ। निराला जी उस



प्रगतिशील लेखक संघ पर अपनी टिप्पणी लिख रहे हैं। यहाँ (इलाहाबाद) के लीडर प्रेस में ठहरे हुए हैं, वहाँ से पत्र लिख रहे है—*'यहाँ एक दल ऐसा है जो उच्च शिक्षित है, शायद सोशलिस्ट भी है, कुछ लोग यूरोप भी हो आये हैं। कुछ स्त्री और पुरुष, हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं।* (सज्जाद ज़हीर, मुल्कराज आनंद के बारे में घुमा-फिराकर वर्णन कर रहे हैं। आगे सज्जाद ज़हीर का नाम लेते हैं, उनकी वंश परम्परा बताते हैं और बताते हैं कि वे किसके लड़के हैं।) *उन्होंने प्रगतिशील मीटिंग या एसोसिएशन नाम की एक संस्था कायम की, उसमें उच्च शिक्षित जन कुछ लिखते भी हैं— इसमें मुझे सन्देह है। मेरे मित्र होते तो यहाँ अच्छी तरह बता देते।* (निराला के तीसरे वॉल्यूम से कह रहा हूँ, मेरा कुछ नहीं है) *शायद लिखने का एक नया आविष्कार, इन्होंने किया है और वह आज जोर पकड़ता जा रहा है।'* प्रगतिशील लेखक संघ, जहाँ कि राजनीति का दबाव है, उस राजनीति के दबाव में निराला खड्गहस्त हैं।

अब आइये छायावाद की प्रसिद्ध कवयित्री **महादेवी** के प्रसंग के संस्मरण सुनें। प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के समय की बात है। श्रीराम केन्द्र में महादेवी जी के सम्मान में एक गोष्ठी का आयोजन है। उस आयोजन के चेयरमैन हैं—विद्याशंकर, जो उस समय प्रधानमंत्री मोरारजी के सचिव होने के लिए खासतौर से बुलाये गये हैं—महादेवीजी हैं, विद्याशंकर हैं और श्रीराम है, विद्याशंकर स्वागत करते हैं— महादेवीजी का, जैसा कि स्वाभाविक है, कहते हैं—हम लोग इलाहाबाद में एक साथ थे, एक ही साथ हाई स्कूल किया हमने और उस समय पोज़ीशन इनकी पहली थी। उन्होंने बताया कि हम विश्वविद्यालय में साथ-साथ थे। लेकिन यह ज़माना था कि लड़कों और लड़कियों का अपने ढंग से मिलना-जुलना नहीं होता था। मैं महादेवी को पहचानता हूँ, पता नहीं, ये मुझे जानती हैं कि नहीं। बस इतना ही शिष्टाचार था। हम लोग बड़े उत्सुक थे कि देखें महादेवी जी क्या कहती हैं? वह भी थे विद्याशंकर, जो बड़े प्रतिभाशाली थे। यह कहिए कि रातोंरात उन्हें राज्यसभा में नामज़दगी करवा दें। पद्म विभूषण या जो चाहें, वह सम्मान दें। क्योंकि हमेशा यह कहा जाता है कि प्रधानमंत्री से ज्यादा प्रभावशाली उसका सचिव होता है। कहा जाता है कि इंदिरा गाँधी से किसी ने पूछा कि अगले जन्म में आप क्या होना पसंद करेंगी? उन्होंने कहा—पी.सी. एलेक्जेंडर होना चाहती हूँ। उनकी दृष्टि में एलेक्जेंडर साहब की महिमा उनसे बड़ी थी। तो विद्याशंकर का क्या उत्तर देती हैं महादेवीजी, यह सब देख कर हम लोग थोड़ा मज़ाक में भी आ गये। लगता है *'उसने कहा था'* जैसी कहानी का प्रसंग है, यह सब आरम्भिक स्थिति है। उनका स्नेह जो आज उनकी याद दिला रहा है। लगभग पचास मिनिट महादेवीजी बोलीं। सिवाय शिष्टाचार के, सभापति महोदय आदि-आदि, उन्होंने उसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया, और पहिचान के बढ़ाए हुए हाथ को लेने से इन्कार कर दिया। लौटने लगीं, संयोग से उसी कार में मैं भी था। मैंने कहा उनसे, आखिर क्या बात हुयी, आपसे इतने अच्छे ढंग से उन्होंने बात की, आप से एक शब्द भी कहते न बना। 'हाँ, विद्यासागरजी भी उस समय थे—' उन्होंने कहा— 'क्या जरूरी है कि इनरोलमेंट देखा जाय, रजिस्टर देखा जाय। ठीक है आप कह रहे हैं तो मैं मान ले रही हूँ (हँसी में, याद ही नहीं आया) लेकिन मैं झूठ कैसे बोल दूँ' हालाँकि, छायावादी कवियों का सच-झूठ क्या होता है, इसकी थोड़ी जानकारी मुझे भी हैं लेकिन वहाँ उन्होंने इसे अपने लिए तौहीन समझा कि प्राइम मिनिस्टर का सेक्रेटरी मुझसे इस तरह का परिचय दे रहा है, माँग रहा है—इसे मैं स्वीकार कर लूँ। वह एकदम से चुप थीं।

दूसरी विशेषता है उसके बारे में मैं आपसे कहना चाहता था कि प्रयाग के साहित्य-वातावरण की, यहाँ की, जो एक साहित्यिक ठसक है, उसकी अपनी अलग पहचान है। झा साहब के विषय में एक चर्चा है। लेकिन वे एक तरह से *'सिम्बल'* हैं।—हिन्दी, अँग्रेजी, उर्दू, सब के, और यहाँ के सम्मिलित वातावरण के।

यह ठसक का रूप अगर *फ़िराक़* साहब का वर्णन न करें तो बात ही पूरी न होगी। फ़िराक के तो इतने किस्से है जिसे कहा जाता है कि एपोक्रिफ़ल, एक बहुत ही सीधा संस्मरण है। अँग्रेजी-विभाग के स्टाफ़ रूप में फ़िराक़ साहब बैठे हैं, बच्चनजी बैठे हैं, उन दिनों वे यहीं पढ़ा रहे थे, और लोग भी बैठे हैं। चपरासी ने डाक लाकर रख दी है—स्टाफ़ रूम की टेबुल पर। एक युवा, जो नया अध्यापक है, कौतूहलवश फ़िराक साहब को छेड़ रहा है। उसने धीमे से कहा—*'फ़िराक साहब, हवाई पत्र आया है ऐरोग्राम, डब्लू.बी. यीट्स का है, बच्चनजी के नाम।'* अब डब्लू.बी. यीट्स—अरली फिफ्टीज में—समझिए, भगवान का रूप थे अँग्रेजी विभाग में। चिट्ठी आ जाय, तो समझिए उससे बड़ा कुछ नहीं हो सकता। अब जो छेड़ रहा था फ़िराक साहब को, जान-बूझकर उसका भाव था कि *'देखिए एक आप हैं ख़ाक घूमते फिरते हैं, एक बच्चजी हैं जिन्हें डब्लू.बी. यीट् स चिट् ठी लिख रहे हैं।'* फ़िराक़ साहब ने सुन लिया। फिर कहा—*'जी हाँ, कायदा, कानून, व्यवहार में अँग्रेजों से बड़ा कोई नहीं, इधर चिट्ठी लिखिए जवाब आया।'* अब आप देखिए—उन्होंने कुछ नहीं कहा, फ़िराक ने न यीट्स की अवमानना की, न बच्चनजी की। और सबको समझा दिया कि कहाँ क्या है। अँग्रेज सभ्य आदमी हैं, साहित्य से उनका कोई मतलब नहीं, चिट्ठी बच्चनजी ने लिखी होगी। उन दिनों बच्चनजी रिसर्च करना चाहते थे यीट्स साहब के साथ, और उसके लिए यीट्स ने दो लाइन लिख दी होगी। उसके लिए इतना बड़ा विवाद!

उसी विभाग के दूसरे सज्जन हैं अँग्रेजी के स्वनामधन्य—एस.सी. देव। उनका ढंग यह था कि दूसरे के क्षेत्र में जाकर परास्त करो तब तो कोई बात हुई। हिन्दी-संस्कृत साहित्य, बंगला साहित्य सब में पारंगत, क्या बात थी! देव साहब के बारे में हम लोग कहते थे कि जब ये इंग्लैंड गये नहीं थे, (बहुत बाद में इंग्लैंड गये थे) तो लंदन का नक्शा इनको याद था। ऑक्सफ़ोर्ड और लेटमर स्ट्रीट कहाँ हैं और दोनों की क्रासिंग कहाँ है, कौन-सा बैंक है, कौन-सा दफ़्तर है, यहीं से वे बता सकते थे। बहुत बाद में, यानी चढ़ती उम्र में इंग्लैंड गये। उस के भी बड़े किस्से हैं। जब प्रोफेसर देव वहाँ पहुँचे तो देखा कि वहाँ अपना जाँघिया (ब्रीफ्स) भूल गये थे, हड़बड़-हड़बड़ में तैयारी की थी, अंडरवियर भूल गये। अब जिस स्टोर में जायें वहाँ लड़की ब्रीफ्स बेचने वाली। लड़की जब बेच रही है तो उससे अंडरवियर (ब्रीफ्स) तो माँगा नहीं जा सकता, यह सोचकर दसियों स्टोर उन्होंने वहाँ के देखे, आक्सफोर्ड स्ट्रीट में। इसके बाद तो उन्होंने एक दोस्त या विद्यार्थी को फोन किया। वह आया बिचारा, भागा हुआ। कहा—सर, क्या सेवा करूँ आपकी। उन्होंने उससे कहा—तुम हमारे संग चलो, जरा-सा हमको अंडरवियर की खरीददारी करवा दो, यंगमैन। हर जगह लड़कियाँ दुकान पर सामान बेच रही है। विक्टोरियन अँग्रेज़ी वाले लोग थे, वहाँ अंडरवियर की तो बात कहना ही अलग है।

कैम्ब्रिज जब पहुँचे (कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के निमंत्रण पर गये हुए थे) तो वहाँ हमारे मित्र रिसर्च कर रहे थे इकोनॉमिक्स में, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में फेलोशिप पर। उन्हें पता चला कि गुरुदेव आये हुए है। उन्होंने सोचा, चलकर जरा उनको कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी दिखा दें। हालाँकि वे *'इकोनॉमिक्स'* के विद्यार्थी थे, विनोद दुबे। उन्होंने सोचा कि इलाहाबाद के प्रोफेसर हैं, गुरु हैं, तो आकर शाम को उन को बुक कर आयें कि सर हम सबेरे आयेंगे। तो कहा, हाँ सबेरे आ जाना ठीक दस बजे। हम तुमको कहाँ ढूँढेगे! दस बजे वे आ गये और लेकर चले—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय। वहाँ की जो *चैपल* है—उस *चैपल* से जाहिर है कि टूर शुरू होता है, इतनी जानकारी उन्हें थी (वरना रात भर में जितनी पुस्तकें थी, टूरिस्ट गाइड-वाइड रटकर) वहाँ गये तो चैपल में जाकर कहा कि सर यह किस आर्किटेक्चर का बना हुआ है, किस सन् का है, किस सन् बना। दो-तीन मिनट तो गुरु जी ने सुना। उसके बाद उन्होंने वह सूत्र उनके हाथ से लिया और कहा,



'हाँ यह फलाँ आर्किटेक्ट का बनाया हुआ है, और इस आर्किटेक्चर के यूरोप में कहाँ-कहाँ और कितने कैथड्रिल बने हुए हैं, और कितने कॉलेज है कैम्ब्रिज में। कितने मास्टर थे किस सन् में अँग्रेजी में, पढ़ाई गयी पुस्तकों के नाम, आर्किटेक्चर—किसका क्या है—सब बताने लगे। विनोद दुबे, जो मेरे घनिष्ठ मित्र हैं बताते हैं, कि मैं आश्चर्य में पड़ गया। अब जितने टूरिस्ट हैं— तमाम लोग जो कैम्ब्रिज में जमा होते हैं, वे अपने गाइड को छोड़कर देव साहब के पीछे हो लिए। देव साहब आगे-आगे छड़ी लिये चले जा रहे हैं, और कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी का गाइड और बहुत से यूरोप और इंग्लैंड के लोग देव साहब के साथ।

यह एक स्थिति थी जैसा मैंने कहा। और विनम्र तो इतने थे कि—*'कोई गलती कर रहा हूँ तो बता दीजिएगा।'* विनम्रता तुलसीदास वाली थी कि *'कवि न होउँ नहि चतुर कहाऊँ'*, महाराज मैं कविता-वविता लिखना कहाँ जानता हूँ? उन देव साहब ने *'आक्सफोर्ड कम्पेनियन टु इंग्लिश लिटरेचर'* में करेक्शन किये। चौथे संस्करण में सम्पादक महोदय ने अपनी भूमिका में ज़िक्र किया कि हम अँग्रेजी के प्रोफेसर देव के विशेष आभारी हैं जिन्होंने हमको इतने संशोधन दिये और हम बड़ी कृतज्ञता से उन्हें स्वीकार कर रहे हैं। दुर्भाग्य से जो पाँचवाँ एडिशन हुआ—उसमें कोई महिला हैं—ड्रेबल, उन्होंने नये संस्मरण में कुछ ऐसा कर दिया है कि अपने से पूर्व की सारी भूमिकाएँ उस संस्करण से हटा दीं। एक बार मैंने आक्सफोर्ड वालों से शिकायत भी की थी।

बहरहाल उसका चौथा संस्करण देखेंगे तो उसमें यह मिलेगा। यह था वातावरण इस नगर का, विश्वविद्यालय का। हमारे गुरुदेव प्रोफेसर *धीरेन्द्र वर्मा* कट्टर आर्यसमाजी थे—लेकिन पेरिस में पढ़े हुए आर्यसमाजी थे। उन्नीस सौ सत्तावन में हम लोगों ने कान्फ्रेंस की थी *'स्टेट एण्ड राइटर'* या *'राज्य और लेखक'* जिसमें बहुत सारे प्रश्न उठाये गये थे। आप कल्पना कीजिए ५६ में, अब से लगभग ४० वर्ष पूर्व, तारा बाबू और कारन्थ और तमाम लेखक आये हुए थे—समस्या यह थी कि इलाहाबाद की ओर से कौन बात रखे, सरकार से सीधे भिड़ने वाली बात कौन कहे? सत्तावन की बात है तब ऐसा नहीं था जैसी आज की स्थिति है। उस समय की भारत सरकार और जवाहरलाल नेहरू दूसरे थे— १९९३ की तुलना में। हम लोग धीरेन्द्रजी के पास गये। उन्होंने कहा ठीक है हम पढ़ेंगे—उनका वक्तव्य हुआ, वह छपा हुआ है। उन्होंने लिखा—*'सरकार को यूनिवर्सिटी, कमीशन, लेखक, हाईकोर्ट—इनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।'* बहुत स्पष्ट दो टूक शैली में वक्तव्य दिया, जो आज भी किसी के लिए देना कठिन है।

इस नगर की एक विशेषता की ओर और संकेत करना चाहूँगा, यहाँ के उन्मुक्त वातावरण की। जितने लेखकों ने दुबारा घर बसाया वे हिन्दी में इलाहाबाद से आये बड़े नाटककार, बड़े उपन्यासकार, बड़े कवि, वैसे नाम लेना भी कोई आजकल अशिष्टता नहीं है पर कहाँ सूची में जाऊँगा, बड़ी लम्बी कथा है। तो हम लोग इतिहास में पढ़ते है कि अँग्रेजी साहित्य में जब कवि कुछ गड़बड़ करता था तो रोम चला जाता था, इटली चला जाता था, इंग्लैंड में उस समय एक प्रकार से कंजरवेटिव माहौल था, वहाँ वह उससे मुक्ति पाता था। इलाहाबाद का साहित्यिक वातावरण ठीक उसी प्रकार था। चाहे अश्क हों, चाहे अज्ञेय हों, चाहे रेणु हों, सब को जब इस प्रकार की ज़रूरत महसूस हुयी तब उन्होंने इस प्रकार का घर बसाया। यहाँ किसी ने एक प्रकार के परायेपन का अनुभव नहीं किया। शायद मैं पहली बार यहाँ रेखांकित कर रहा हूँ। वरना लोगों के ध्यान में भी यह चीज़ें नहीं आयी होगी कि ऐसा भी कुछ हो सकता है। तो यह यहाँ के वातावरण की एक विशेषता है और जैसा मैंने कहा—साहित्यिक वातावरण और कैम्पस का वातावरण दोनों एक-दूसरे के साथ चलते हैं। नगर और कैम्पस और कैम्पस की अपनी भीतर की जो प्रक्रिया है, वह चलती रहे, जैसे—कि एक इन्टेरेक्शन। यह भी आप सबसे पहले इलाहाबाद में देखेंगे कि सिविल सर्विसेज़

के लेखक थे। सिविल सर्वेंट बड़े-बड़े विद्वान हुए—अँग्रेज और भारतीय। उन्होंने बड़े-बड़े ग्रन्थों में धर्मशास्त्र पर लिखा, पुराणों पर लिखा, जातियों पर लिखा। रचना के क्षेत्र में, जाहिर है कि वे विदेशी थे, रचना से उनका कोई सम्बन्ध नहीं था। लेकिन बालकृष्ण राव या जगदीशचन्द्र माथुर जैसे साहित्यकार कवि, नाटककार इसी यूनिवर्सिटी और कैम्पस की अन्तर-क्रिया में से उत्पन्न होते हैं।

लेकिन आज की स्थिति और तब की स्थिति में जैसा, मैंने कहा—बड़ा अन्तर था। उस ज़माने में हिन्दी में कुछ लिखना जब *'भाषा बोलि न जानहीं, जाके कुल के दास'* जहाँ नौकर-चाकर तक अँग्रेजी बोलते थे वहाँ हिन्दी में कविता लिखें! ऐसी उटपटाँग बात? और उस ज़माने में हिन्दी में लिखा, वह भी इलाहाबाद के वातावरण की देन थी। जो कैम्पस के प्रोफेसर थे उनका यही हाल था, अपने विषय के थे लेकिन साहित्य से जुड़े थे। डॉ. बेनीप्रसाद ने *सूर-सागर* का संस्करण लिखा। आप और हम उन्हें जानते हैं—कान्स्टीट्यूशनल एक्सपर्ट के रूप में। लॉयड जॉर्ज की कन्वेसिंग कर रहे है। स्विट्जरलैण्ड और जाने कहाँ-कहाँ के कान्स्टीट्यूशन पर वे निमन्त्रित होते थे। हिन्दुस्तान की प्राचीन सभ्यता के जानकार के रूप में शीर्ष व्यक्ति थे, और सूर सागर का संस्करण कर रहे हैं। *'सरस्वती'* में सत्यशोधक के नाम से लेख लिख रहे हैं। डॉ. ताराचन्द थे, डॉ. *रामप्रसाद त्रिपाठी* थे। शायद आपने नाम सुना हो, वे श्री पीस सूट पहनते थे। जेब में सुर्ती की कन्नोजिया डिब्बी रखते थे—खट-खट वाली और ब्रजभाषा के छन्द बड़े प्रेम से सुनते थे और लिखते थे उस समय।

मैं तो कहूँगा संसार में शायद ही ऐसा कोई कैम्पस मिले। अगर मोटी जनगणना करें, पन्त और महादेवी से चलें तो छायावाद के ज़माने से पन्त और महादेवी, राजकुमार वर्मा, और बच्चन, शमशेर, नरेन्द्र शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, भगवतीचरण वर्मा, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, दूधनाथ तक चलते चले आइये—इसे कैम्पस पोयट्री कहा जा सकता है? फ़िराक साहब अगर सुन लें कि ये साहब कैम्पस पोयट्री कह रहे हैं तो डंडा लेकर खड़े हो जाय कि—यह कैम्पस पोयट्री क्या है हुजूर। तो इस शहर का यह वातावरण रहा है।

मैं कहना यह चाहूँगा कि अगर प्रदूषण है तो इसके लिए गंगा प्रदूषण अॅथारिटी लगाने की ज़रूरत नहीं है। अगर सरस्वती का प्रदूषण हो तो चिन्ता का विषय है—गंगा यमुना का प्रदूषण है जो आप समझ सकते हैं। सरस्वती को स्वयं अपने प्रवाह से व्यवस्थित करना होगा। अगर उस सरस्वती में प्रवाह नहीं है तो वह प्रदूषण न तो दूर होगा और शायद दूर करने की ज़रूरत भी नहीं रह जायेगी। मैंने बहुत उलटे-पुलटे ढंग से अत्यन्त संक्षेप में अपनी बात कही दी। भारतेन्दु बाबू कहते थे—*'रात थोड़ी है, स्वाँग बहुत है'* यह स्वाँग बहुत लम्बा है। इसलिए हमने एक हल्का-सा चित्र रख दिया एक तरह से संगीत की महफ़िल में जो काम तानपुरा वाला करता है, एक साथ तानपुरा बजा कर रख दिया। अब एक-एक कलाकार आयेंगे और अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करेंगे, जिसको आप अच्छे प्रकार से सुन सकेंगे।



विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

# निज की अनुपस्थिति

ऐंगिल्स बूढ़े हो गये थे। एक दिन कुछ पार्टी कार्यकर्ताओं ने उनके मनोरंजनार्थ एक कवि गोष्ठी का आयोजन किया। गोष्ठी की समाप्ति पर आयोजक ने ऐंगिल्स से अनुरोध किया, *'सर, ये युवक कवि आपसे आशीर्वाद के दो शब्द सुनना चाहते हैं।'* ऐंगिल्स ने कहा, *'मेरे युवा साथियों, मैं आपकी कविताएँ बहुत ध्यान से सुन रहा था। मुझे बहुत खुशी हो रही थी। लेकिन बड़ा आश्चर्य भी हो रहा था कि आप लोग अपनी कविता में वही-वही बातें कर रहे हैं जो हम लोग सोचते और कहते रहते हैं। आप लोग तो अभी नये-नये युवक हैं। यह उम्र तो प्रेम करने की है। एक ऐसी दुनिया में रहने की है जो कि सौन्दर्य से लबालब हो। क्या आप लोग प्रेम नहीं करते? क्या आप लोगों की अपनी कोई दुनिया नहीं है।'* इस घटना का जिक्र हिन्दी के एक वरिष्ठ मार्क्सवादी लेखक ने किया था। यह घटना सही है या झूठी, मुझे इसके सत्यापन में नहीं जाना है। लेकिन इसमें जो बात है वह ज़रूर महत्त्वपूर्ण है। कविता कवि से अभिन्न होती है। वह वही होती है जो कि कवि स्वयं होता है। यदि यह सही है तो किसी कवि की एक उम्र होगी, उसका एक परिवार होगा, एक संस्कार होगा, एक परिवेश होगा, उसकी एक मानसिक बनावट होगी। ऐसा कैसे हो जाता है कि एक कवि ठीक उसी तरह और वही-वही चीज़ें लिखने लगता है जो कि उसके ठीक उल्टे व्यक्तित्व, संस्कार, प्रकृति और परिवेश का कवि लिख रहा होता है? हर उम्र का एक अनुभव स्तर होता है। एक पाँच वर्ष के बच्चे से इसकी आशा नहीं की जा सकती कि वह जीवन की नश्वरता और निस्सारता का अनुभव करेगा। यदि पचासी वर्ष के त्रिलोचन जैसी ही कविताएँ एक पन्द्रह वर्ष का युवा कवि लिख रहा है तो उसको ज़रूर कोई चमत्कारी व्यक्तित्व मानना चाहिए। इस तरह के चमत्कारी कवियों से हमारे समय की युवा कविता पटती जा रही है। हुआ यह है कि कविता के साथ कवि का रिश्ता उलट गया है अर्थात् अनुभव के संघर्ष से विचार पैदा नहीं होता बल्कि विचार सीधे कविता बन जाता है। यह कविता के वजूद के लिए, उसके आयुष्य और देश-काल की भिन्नता में उसके अनेकायामी प्रभाव के लिए खतरनाक है।

भारतीय काव्यशास्त्र में कवि को बहुत महत्व दिया गया है। आनन्दवर्द्धन ने उसे *'प्रजापति'* कहा है। मम्मट ने उसकी सृष्टि को ब्रह्म की सृष्टि से भी उत्कृष्ट बताया है। राजशेखर ने *'काव्य मीमांसा'* के दशम अध्याय में कवि के स्वरूप और उसकी कोटियों के बारे में बहुत विस्तार से लिखा है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों, यूनानी विचारकों मनोविश्लेषणवादियों आदि सब ने कवि को महत्त्व देते हुए कविता (रचना) की निजता पर बल दिया है। अँग्रेजी स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन के कवि कविता की परिभाषा के लिए जिस शब्दावली का इस्तेमाल करते हैं उससे ज़ाहिर है कि उनके अनुसार कविता का स्रोत कवि की निजता में है। उदाहरण के लिए वर्डस्वर्थ

द्वारा प्रयुक्त Spontaneous (जो Calculated का उल्टा है)। Overflow (जो disciplined कर उल्टा है) तथा powerful feelings (जो Rational का उल्टा है) जैसे शब्दों को देखा जा सकता है। इसी प्रकार इन कवियों द्वारा प्रयुक्त self expression (आत्माभिव्यक्ति) imagination (कल्पना), spirit (आत्मा), inner world (अर्न्तजगत) आदि शब्द भी हैं। इन शब्दों का प्रयोग हिन्दी के छायावादी कवि और उनके समर्थक आलोचक भी करते हैं। वस्तुतः कवि-मानस ही वह भट्टी है जिसमें कविता ढलती और आकार लेती है। टी.एस. इलिएट ने इसी को यों कहा है कि कलाकार का मन एक प्रकार का भण्डार है जिसमें अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ, शब्द, विचार, चित्र इकट्ठे हुए रहते हैं, उस क्षण की प्रतीक्षा में जब तक कि कवि-प्रतिभा के ताप से एक नया रसायन, एक चमत्कारिक योग उत्पन्न नहीं हो जाता। सामान्य तौर पर कहें तो कवि के भीतर जो सर्जनशील चेतना होती है उसी का नाम प्रतिभा है। वह इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य संसार को ग्रहण करती है और उसके बाद ही रूप निर्माण करती है जिसे काव्य-रचना कहा जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में, *'हृदय पर नित्य प्रभाव रखने वाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामन्जस्य घटित करती हुई उसकी भावनात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।'* अरस्तू के अनुसार, *'कलाकृति मूलवस्तु को पुनरुत्पादित तो करती है लेकिन उस रूप में नहीं जो उसका स्वरूप है बल्कि उस रूप में जैसी वह इन्द्रियों में प्रतिभासिक होती है।'*

कारखाने में यदि कोई मशीन एक प्रकार की घड़ियाँ या साबुन या ऐसी ही अन्य प्रकार ही चीज़ें बना रही हो जिनके स्वरूप, गुण आदि में कोई अन्तर न हो तो हम उन्हें *'रचना'* नहीं कहेंगे। रचना के लिए *'नया'* और *'भिन्न'* होना अनिवार्य शर्त है। रचनाकार अपनी रचना को काटता-छाँटता, तराशता है। कभी कोई शब्द बदलता है, कभी कोई पंक्ति और उसे पूर्ण तब मानता है जब यह महसूस करता है कि उसे उसी ने रचा है। अर्थात् वह उसी की चीज़ है, किसी अन्य की नहीं। यह नयापन कथ्य और भाषा दोनों में एक साथ लक्षित होता है। दुहराया गया अनुभव आकृष्ट नहीं करता। पिटी पिटायी भाषा प्रत्यक्षानुभूति नहीं कराती। कवि अपनी उपस्थिति से जो काव्य-संसार निर्मित करता है वह अनुकृति नहीं, कृति होती है, प्रतिछवि नहीं छवि होता है, प्रतिबिम्ब नहीं बिम्ब होता है। कविता उस कच्चे माल का रूपान्तर है जो कवि की भट्टी से ढलकर निकलता है इसलिए उस पर उस भट्टी की मुहर होती है। होनी चाहिए क्योंकि वह छाप ही सृजन है। आज की कविता में कवि का यह निजी स्पर्श गायब है। कवियों के नाम हटा दीजिए तो सभी कविताएँ एक ही कवि की कविताएँ लगेंगी। ऐसा लगता है कि किसी कवि का कोई निजी सरोकार है ही नहीं। हिन्दी में यह स्थिति छायावाद काल तक नहीं थी। जब से साहित्य में यह विचार हावी हुआ कि साहित्य एक पुर्ज़ा (Instrument) है और उसे एक विचारधारा के अधीन संचालित होना चाहिए, तब से रचना का अपना रंग समाप्त हो गया। आज कथा साहित्य में प्रेमचन्द की परम्परा की बार-बार वकालत की जाती है और कविता में मुक्तिबोध की। इसकी वकालत करने वाले इतने सशक्त हैं कि कोई रचनाकार मुँह खोलकर यह कह नहीं पाता कि हर कवि को अपना अनुभव लिखना चाहिए, किसी दूसरे का नहीं। रचना को शक्ति किसी दूसरे के विचारों को दुहराने से नहीं मिलती, अपने अछूते अनुभवों को रूपाकार देने से मिलती है। वह मौन को मुखर करता है, सन्नाटे को शब्द देता है, अरूप को रूप देता है। कवि का यह दुराग्रह



कि उसकी कविता पाठक को अपने समय में ही प्रभावित करे और जैसा वह चाहता है वैसा ही प्रभाव छोड़े, स्वयं उस कवि और उनकी कविता के हित में नहीं होता। कविता मुक्त होनी चाहिए किसी भी देश-काल में अपने पाठक पर वैसा प्रभाव छोड़ने के लिए जैसा कि पाठक ग्रहण करे।

आज विचारधारा के प्रचारकों ने कविता लिखना बहुत आसान बना दिया है। उनके बीच चर्चित होने के लिए अखबार पढ़ कर किसी भी घटना पर कविता लिखी जा सकती है। उस घटना से कवि का भावात्मक-आत्मिक रिश्ता चाहे बनता हो या नहीं। बाबरी मस्जिद के ध्वंस पर या अखबारों में छपी घटनाओं पर हिन्दी में सैकड़ों निर्जीव कविताएँ मिल जायेंगी। जैसे चीनी हमले के समय लिखी गयी तमाम चीन विरोधी कविताएँ। इनका कोई असर पाठक पर नहीं पड़ता क्योंकि स्वयं कवि-मन पर इन घटनाओं का कोई असर नहीं पड़ा है। रचना मात्र तात्कालिक प्रतिक्रिया नहीं होती, क्रिया होती है। बकौल सार्त्र, एक आदमी पीड़ा में चीख़ता है और दूसरा पीड़ा में गाता है। वह जो पीड़ा में गाता है, वही-रचनाकार है। इसीलिए रचना एक सृजन है, कोई अदालती बयान या विवरण नहीं। हिन्दी के लगभग सभी दलित कवियों की कविताओं में एक आक्रोशभरी प्रतिक्रिया है। वे कविताएँ कवियों की भीतरी बेचैनी का साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करतीं। जो कविता किसी भी बाह्य दबाव में (चाहे वह प्रकाशक का दबाव हो या सम्पादक का, पार्टी का या विचारधारा का) लिखी जाती है उससे कवि की निजता गायब हो जाती है। सच्ची कविता का जन्म बाह्य दबाव में नहीं, आन्तरिक विवशता में होता है। हिन्दी के संत-भक्त कवियों ने अपने समय की राज-सत्ताओं के आग्रह पर एक भी छन्द नहीं लिखा। रीतिकालीन दरबारी कवियों का विश्लेषण किया जाये तो जाना जा सकता है कि उनमें कितनी आतंरिक विवशता है और कितना धन या वाहवाही का लोभ। जहाँ आन्तरिक विवशता होती है वहाँ भाषा में थिराव होता है, वह उछलती-कूदती या चमत्कार प्रदर्शित नहीं करती। किंवदंतियों के अनुसार जब सम्राट अकबर ने तानसेन की तुलना में स्वामी हरिदास के गायन की गरिमा का रहस्य पूछा था तो तानसेन ने यही उत्तर दिया था, *'मैं आपकी इच्छा से गाता हूँ, स्वामी जी अपनी इच्छा से गाते हैं। स्वामी जी शहंशाहों के शहंशाह के दरबार में गाते हैं।'* किंवदंती झूठी हो सकती है पर तानसेन का उत्तर तब भी सही था और आज भी सही है।

जो रचनाकार की अनुभूति नहीं है उसे रचना की संज्ञा देना व्यर्थ है। कवि की ईमानदारी इसमें है कि उसका रचा हुअ संसार कितना वास्तविक और कितना अनुभूत है। अनुकरण कभी ईमानदारी या प्रामाणिक अनुभूति नहीं बन सकता। *'रामचरित मानस'* केवल तुलसी जैसा आस्तिक और आस्थावान कवि ही लिख सकता था। *'रामचन्द्रिका'* कोई भी विद्धान व्यक्ति लिख सकता है। *'रामचन्द्रिका'* एक चली आती परम्परा का अनुकरण मात्र है जबकि *'मानस'* एक कवि की आस्था और अनन्यता का दस्तावेज़। कविता में कृत्रिमता तभी दिखायी पड़ती है जब बाह्य वास्तविकता को कवि का आन्तरिक संसार आत्मसात् नहीं कर पाता। ऐसा होता है कि रचनाकार कहना तो कुछ चाहता है पर उसकी रचना कुछ और ही कहने लगती है। अर्थात् उसकी भाषा उसके मन्तव्य को व्यक्त करने में असमर्थ हो जाती है। ध्यान देने की बात है कि रचनाकार *'जो चाहता है'* प्रभाव उसका नहीं पड़ता। प्रभाव उसका पड़ता है जो रचना *'वास्तव में होती है'* और रचना प्रायः वह होती है जो रचनाकार स्वयं होता है। रचना की अपनी निजी विशेषताएँ रचनाकर की ही निजी विशेषताएँ हैं। परिवेश का अनुभव ही कविता बनता है लेकिन वह अनुभव होता

तो कवि के ही माध्यम से है। कविता परिवेश की उस प्रकार की उपज नहीं होती जैसे गन्ने से चीनी बनती है। इसमें कवि की सर्जनात्मक भूमिका सक्रिय होती है। उस में कवि के मनोजगत की बनावट, उसके संस्कार, उसकी कल्पनाशक्ति और उसकी दृष्टि का बहुत योग होता है। अगर ऐसा नहीं होता तो एक परिवेश में रहने वाले रचनाकारों की रचनाएँ भी एक जैसी होतीं। कविता या रचना मूलतः व्यक्तिपरक होती है। अर्थात् उस पर कवि या रचनाकार की छाप ज्यादा गहरी होती है। यह एक रचनात्मक सत्य है कि रचनाकार जब लिखने बैठता है तो उसकी रचना असली संसार के अधिकाधिक निकट भागती है और रचनाकार उसे अधिक से अधिक अपने निकट खींचना चाहता है। रचना असली संसार के जितने निकट पहुँच जाती है उतनी ही वह यथार्थ होती है और रचनाकार के जितने निकट आ जाती है उतनी ही नयी। जो लोग यह मानते हैं कि रचना परिवेश की उपज होती है उनका यह मानना आधा ही सच है। *'देखना'*, *'भोगना'*, *'अनुभव करना'* और *'रचना'* अलग-अलग स्थितियाँ हैं। रचना के सन्दर्भ में यह ध्यान रखना होगा कि यथार्थ एक दृष्टि है जो रचनाकार में होती है इसीलिए रचना का यथार्थ वह है जो रचनाकार उसे देता है।



अनुपम मिश्र

# भाषा और पर्यावरण

किसी समाज का पर्यावरण पहले बिगड़ना शुरू होता है या उसकी भाषा—हम इसे समझ कर सम्भल सकने के दौर से अभी तो आगे बढ़ गये हैं। हम *'विकसित'* हो गये हैं।

भाषा यानी केवल जीभ नहीं। भाषा यानी मन, और माथा भी। एक का नहीं, एक बड़े समुदाय का मन, और माथा जो अपने आसपास के और दूर के भी संसार को देखने-परखने-बरतने का संस्कार अपने में सहज संजो लेता है। ये संस्कार बहुत कुछ उस समाज की मिट्टी, पानी, हवा में अंकुरित होते हैं, पलते-बढ़ते हैं और यदि उनमें से कुछ मुरझाते भी हैं तो उनकी सूखी पत्तियाँ वहीं गिरती हैं, उसी मिट्टी में खाद बनाती हैं। इस खाद यानी असफलता के, ठोकरों के अनुभव से भी समाज नया कुछ सीखता है।

लेकिन कभी-कभी समाज के कुछ लोगों का माथा थोड़ा बदलने लगता है। यह माथा फिर अपनी भाषा भी बदलता है। यह सब इतने चुपचाप होता है कि समाज के सजग माने गये लोगों के भी कान खड़े नहीं हो पाते। इसका विश्लेषण, इसकी आलोचना तो दूर, इसे कोई क्लर्क या मुंशी की तरह भी दर्ज़ नहीं कर पाता।

इस बदले हुए माथे के कारण हिन्दी भाषा में पिछले ५०-६० बरस में नये शब्दों की एक पूरी बारात आयी है। बारातिये एक से एक हैं पर पहले तो दूल्हे राजा को ही देखें। दूल्हा है विकास नामक शब्द। ठीक इतिहास तो नहीं मालूम कि यह शब्द हिन्दी में कब पहली बार आज के अर्थ में शामिल हुआ होगा पर जितना अनर्थ इस शब्द ने पर्यावरण के साथ किया है, उतना शायद ही किसी और शब्द ने किया हो। विकास शब्द ने माथा बदला और फिर उसने समाज के अनगिनत अंगों की थिरकन को थामा। अँग्रेजों के आने से ठीक पहले तक समाज के जिन अंगों के बाकायदा राज थे, वे लोग इस भिन्न विकास की *'अवधारणा'* के कारण आदिवासी कहलाने लगे। नये माथे ने देश के विकास का जो नया नक़्शा बनाया, उसमें ऐसे ज्यादातर इलाके *'पिछड़े'* शब्द के रंग से ऐसे रंगे गये, जो कई पंचवर्षीय योजनाओं के झाड़ू-पोंछे से भी हल्के नहीं पड़ पा रहे। अब हम यह भूल ही चुके हैं कि ऐसे ही *'पिछड़े'* इलाकों की सम्पन्नता से, वनों से, खनिजों से, लौह-अस्क से देश के अगुआ मान लिये गये हिस्से कुछ टिके से दिखते हैं।

कुछ मुट्ठी भर लोग पूरे देश की देह का, उसके हर अंग का विकास करने में जुट गये हैं। ग्राम विकास तो ठीक, बाल विकास, महिला विकास सब कुछ लाईन में है।

अपने को, अपने समाज को समझे बिना उसके विकास की इस विचित्र उतावली में गज़ब की सर्वसम्मति है। सभी राजनैतिक दल, सभी सरकारें, सभी सामाजिक संस्थायें, चाहे वे धार्मिक हों, मिशन वाली हों, या वर्ग संघर्ष वाली— गर्व से विकास के काम में लगी हैं। विकास की इस नयी अमीर भाषा ने एक नयी

रेखा भी खींची है — गरीबी की रेखा। लेकिन इस रेखा को खींचने वाले सम्पन्न लोगों की गरीबी तो देखिए कि उनकी तमाम कोशिशें रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या में कमी लाने के बदले उसे लगातार बढ़ाती जा रही हैं।

पर्यावरण की भाषा इस सामाजिक-राजनैतिक भाषा से रत्ती-भर अलग नहीं है। वह हिन्दी भी है यह कहते हुए डर लगता है। बहुत हुआ तो आज के पर्यावरण की ज़्यादातर भाषा देवनागरी कही जा सकती है। लिपि के कारण राजधानी में पर्यावरण मंत्रालय से लेकर हिन्दी राज्यों के कस्बों, गाँवों तक में बनी पर्यावरण संस्थाओं की भाषा कभी पढ़ कर तो देखें। ऐसा पूरा साहित्य, लेखन, रिपोर्ट सब कुछ एक अटपटी हिन्दी से पटा पड़ा है।

कचरा—शब्दों का और उनसे बनी विचित्र योजनाओं का ढेर लगा है। इस ढेर को *'पुनर्चक्रित'* भी नहीं किया जा सकता! दो-चार नमूने देखें। सन् ८० से आठ-दस बरस तक पूरे देश में *'सामाजिक वानिकी'* नामक योजना चली। किसी ने भी नहीं पूछा कि पहले यह तो बता दो कि असामाजिक वानिकी क्या है? यदि इस शब्द का, योजना का सम्बन्ध समाज के वन से है, गाँव के वन से है तो हर राज्य के गाँवों में ऐसे विशिष्ट ग्रामवन, पंचायती वनों के लिए एक भरा-पूरा शब्द-भंडार, विचार और व्यवहार का संगठन काफी समय तक रहा है। कहीं उस पर थोड़ी धूल चढ़ गयी थी तो कहीं वह मुरझा गया था, पर वह मरा तो नहीं है। उस दौर मे कोई संस्था आगे नहीं आई इन बातों को लेकर। मरुप्रदेश में आज भी ओरण (अरण्य से बना शब्द) हैं ये गाँवों के वन, मन्दिर देवी के नाम पर छोड़े जाते हैं। कहीं-कहीं तो मीलों फैले हैं जंगल। इनके विस्तार की, संस्था की कोई व्यवस्थित जानकारी नही है। वन विभाग कल्पना भी नहीं कर सकता कि लोग ओरणों से एक तिनका भी नहीं उठाते।

अकाल के समय में ही इनको *'खोला'* जाता है। वैसे ये खुले ही रहते हैं, न कटीले तारों का घेरा है, न दीवारबंदी ही। श्रद्धा, विश्वास का घेरा इन वनों की रखवाली करता रहा है। हज़ार-बारह सौ बरस पुराने ओरण भी यहाँ मिल जायेंगे। जिसे कहते हैं *'बच्चे-बच्चे की जुबान पर'* आरेण शब्द रहा है पर राजस्थान में अभी कुछ ही बरस पहले तक सामाजिक संस्थाएँ श्रेष्ठ वन विशेषज्ञ या तो इस परम्परा से अपरिचित थे या अगर जानते थे तो कुछ कुतुहल भरे, शोध वाले अन्दाज़ में। ममत्व, यह हमारी परम्परा है, ऐसा भाव नहीं था उस जानकारी में।

ऐसी हिन्दी की सूची लम्बी है, शर्मनाक है। एक योजना देश की बंजर भूमि के विकास की आयी थी। उसकी सारी भाषा बंजर ही थी। सरकार ने कोई ३०० करोड़ रूपया लगाया होगा बंजर की बंजर रही भूमि। फिर योजना ही समेट ली गयी। और अब सबसे ताजी योजना है जलागम क्षेत्र विकास कीं यह अँग्रेजी के वॉटरशेड डेवलपमेंट का हिन्दी रूप है। इससे जिनको लाभ मिलेगा, वे *'लाभार्थी'* कहलाते हैं, कहीं *'हितग्राही'* भी हैं। *'यूज़र्स ग्रुप'* का सीधा अनुवाद *'उपयोगकर्त्ता समूह'* भी यहाँ है। तो एक तरफ साधन सम्पन्न योजनाएँ हैं, लेकिन समाज से कटी हुयी। *'जन भागीदारी'* का दावा करती हैं पर जन इनसे भागते नज़र आते हैं तो दूसरी तरफ मिट्टी और पानी के खेल को कुछ हज़ार बरस से समझने वाला समाज है। उसने इस खेल में शामिल होने के लिए कुछ आनन्ददायी नियम, परम्पराएँ, संस्थायें बनायी थीं। किसी अपरिचित शब्दावली के बदले एक बिल्कुल आत्मीय ढाँचा खड़ा किया था। चेरापूँजी, जहाँ पानी कुछ गज भर गिरता है, वहाँ से लेकर जैसलमेर तक जहाँ कुल पाँच-आठ इंच वर्षा हो जाये तो भी आनन्द बरस गया—ऐसा वातावरण बनाया। हिमपात से लेकर रेतीली आँधी में पानी का काम, तालाबों का काम करने वाले



गजधरों का कितना बड़ा संगठन खड़ा किया गया होगा। कोई चार-पाँच लाख गाँवों में काम करने वाले उस संगठन का आकार इतना बड़ा था कि वह सचमुच निराकार हो गया। आज पानी का, पर्यावरण का काम करने वाली बड़ी से बड़ी संस्थायें उस संगठन की कल्पना तो करके देखें। लेकिन वाटरशैड, *'जलागम क्षेत्र विकास'* का काम कर रही संस्थायें, सरकारें, उस निराकार संगठन को देख ही नहीं पाती। उस निराकार से टकराती हैं, गिर भी पड़ती हैं, पर उसे देख, पहचान नहीं पातीं। उस संगठन के लिए तालाब एक वॉटर बॉडी नहीं था। वह उसकी रतन तलायी थी, झूमरी तलैया थी, जिसकी लहरों में वह अपने पुरखों की छवि देखता था। लेकिन आज की भाषा जलागम क्षेत्र विकास को मत्स्य पालन से होने वाली आमदनी में बदलती है।

इसी तरह अब नदियाँ यदि घर में बिजली का बल्ब न जला पायें तो माना जाता है कि वे *'व्यर्थ में पानी समुद्र में बहा रही हैं।'* बिजली जरूर बने, पर समुद्र में पानी बहाना भी नदी का एक बड़ा काम है। इसे हमारी नयी भाषा भूल रही है। जब समुद्रतटीय क्षेत्रों में भूजल बड़े पैमाने पर खारा होने लगेगा—तब हमें नदी की इस भूमिका का महत्त्व पता चलेगा।

लेकिन आज तो हमारी भाषा ही ख़ारी हो चली है। जिन सरल सजल शब्दों की धाराओं से वह मीठी बनती थी, उन धाराओं को बिल्कुल नीरस, बनावटी *'पर्यावरणीय, पारिस्थितिक'*, जैसे शब्दों से बाँधा जा रहा है। अपनी भाषा अपने ही आँगन में विस्थापित हो रही है, वह अपने ही आँगन में परायी बन रही है।

नाग बोडस

# मुकाम पोस्ट विटगेंश्टाईन

*लुडविग विटगेंश्टाईन (१८८९ - १९५१) पश्चिम के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दार्शनिक। बहुत उतार-चढ़ाव वाली ज़िन्दगी—एक दम नाटकीय। अपनी आत्मा की आवाज के पीछे चलने वाले व्यक्ति। एक अर्से से उन पर नाटक लिखने का मेरा विचार था। निर्मल वर्मा के घर पर उन पर लिखी एक किताब देखकर अपने इरादे की याद आयी और भारत सरकार के संस्कृति विभाग की सीनियर फेलोशिप मिलने पर उन पर नाटक लिखना शुरू किया। किताबें पढ़कर एक पाण्डुलिपि का प्रारूप तैयार भी हुआ। लेकिन इसे पढ़ने पर लगा कि पश्चिमी अनुभव के अभाव में इसमें आत्मा नहीं आ रही है और बहुत सतही बना है। आस्ट्रियाई साहित्य संघ, वहाँ के विदेश विभाग तथा ब्रिटेन के चार्ल्स वालास इण्डिया ट्रस्ट के सहयोग से मैंने सितम्बर-अक्टूबर, ९९ में इन देशों की अनुसन्धान यात्रा की और साथ ही विटगेंश्टाईन पर के नाटक, 'पढ़ो फारसी, बेचो तेल' की पाण्डुलिपि पर भी काम किया। इस दौरान मैंने विटगेंश्टाईन के सम्पर्क में रहे, उनसे या उनके विद्यार्थियों से पढ़े व्यक्तियों से तथा उनके दर्शन पर काम कर रहे दार्शनिकों से चर्चा की और उन जगहों के वातावरण को महसूस किया जहाँ विटगेंश्टाईन रहे थे। विद्वानों में प्रमुखतः स्वानसी में विटगेंश्टाईन के विद्यार्थी एवं दोस्त रुथ, ही के विद्यार्थी डी. जे. फिलिप्स, बिरमिंघम में लिव्हरपूल विश्वविद्यालय के माइकेल मेक्घी (जो कि कभी-कभी टाइम्स ऑफ इण्डिया के 'स्पीकिंग ट्री' स्तम्भ में लिखते हैं), केम्ब्रिज में मायकेल नेडो, एडवर्ड केग, जेन हील तथा निकोलास डेन्यर, वियेना में वेर्नर लाइनफेल्नर तथा उनकी पत्नी एलिजाबेथ लाइनफेल्नर, ग्राज में रूडोल्फ हालर तथा किर्शबर्ग में डा. एडोल्फ ह्यूबनर से मिला। जिनसे भेंट नहीं हो पायी उनमें ब्रिटेन के रिचर्ड सोराबजी, एन्थोनी केनी तथा एलिज़ाबेथ एन्स्कोम्ब और आस्ट्रिआ के पॉल वाइनगार्नर प्रमुख हैं। विटगेंश्टाईन की कर्मस्थलियों — ब्रिटेन में केम्ब्रिज तथा आस्ट्रिया में वियेना और किर्शबर्ग तथा उसके आसपास के गाँव में जाकर उनके सम्पर्क में रहे व्यक्तियों से मिलना, चर्चा करना तथा उन जगहों के वातावरण को महसूस करना बहुत लाभप्रद रहा। केम्ब्रिज, वियेना और किर्शबर्ग के पुस्तकालयों से कुछ दुर्लभ सामग्री भी एकत्र की। विटगेंश्टाईन से सम्बन्धित स्मारकों को भी देखा। विटगेंश्टाईन के शागिर्द-संगी डा. बेन रिचर्ड की विधवा डा. तारा वनारसे रिचर्ड (जो मराठी लेखिका भी हैं) से इंग्लैण्ड के हेमल हेमस्टेड में तथा विटगेंश्टाईन अपने अन्तिम दिनों में केम्ब्रिज में जिनके घर पर रहे थे, उन डाक्टर रिचर्ड बेवन की विधवा जेन बेवान से मिलना बहुत उपयोगी रहा। अपने मुख्य काम से हटकर केम्ब्रिज में प्रसिद्ध वैज्ञानिक और एक करोड से अधिक बिक्री होने का रिकार्ड बनानेवाली लोकप्रिय-विज्ञान की किताब 'ॲ ब्रीफ हिस्ट्री ऑफ टाइम' के लेखक और न्यूरोन मोटर डिसीज जैसी जघन्य बीमारी से पूरी तरह अपंग हुए स्टीफॅन हॉकिंग से मिलना और उनके साथ तस्वीर खिंचवाना मेरे लिये एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी।*

❑





केम्ब्रिज में चर्चिल कॉलेज के बेहतरीन सुविधायुक्त कमरे में ठहरने के बाद मैं श्रीमती तारा वनारसे रिचर्ड के दिये हवाले से विटगेंश्टाईन आर्काइव्ह्स में प्रोफेसर माइकेल नेडो से मिलने जाता हूँ। वे विटगेंश्टाईन के समस्त लेखन को जर्मन और अँग्रेजी में सम्पादित करने का काम कर रहे हैं और इस सन्दर्भ में एक प्रस्तावना पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं। बीस पौंड की पुस्तक वे मुझे दस पौंड में बेचते हैं। उनसे बात करने पर अहसास होता है कि जर्मन मूल के नेडो एक सिंथेटिक विटगेंश्टाईन बनाने में लगे हैं। अन्य स्त्रोतों से उपलब्ध जानकारी को वे झुठलाते हैं और अपने बचाव में जर्मन में लिखी कुछ पाण्डुलिपियों का हवाला देते हैं। मैं उनसे असहमति जतलाते हुए कुछ अन्य स्त्रोतों का हवाला देता हूँ। पर वे इन्हें अप्रामाणिक बतलाते हैं। वे मुझे सूचित करते हैं कि दो दिन बाद पन्द्रह दिन के लिये फ्रेंकफर्ट जायेंगे और इसलिये मैं वियेना से लौटते हुए एक बार फिर केम्ब्रिज आऊँ और तब वे मुझे बहुत-सी दुर्लभ सामग्री उपलब्ध करा देंगे। विटगेंश्टाईन पर बनी एक फिल्म का वीडियो कैसेट उनके पास होने का बतलाते हुए वे वायदा करते हैं कि अगले दिन उसे मुझे देंगे। बातचीत में वे यह भी बतलाते हैं कि दर्शन में आने से पहले उन्होंने भौतिकी में बुनियादी शिक्षा पायी थी। मैं स्टीफन हॉकिंग से मिलने तथा उनके साथ तस्वीर खिंचवाने के अपने स्वप्न का ज़िक्र करता हूँ। वे बतलाते हैं कि हॉकिंग उनके घर के बहुत करीब रहते हैं और व्हील चेयर पर जाते हुए मैं उन्हें अक्सर देखता हूँ। मैं उनसे अनुरोध करता हूँ कि श्रीमती हॉकिंग से वे मेरे लिये समय ले लें। तय होता है कि दूसरे दिन सुबह ठीक नौ बजे मैं उनके घर पहुँचूँगा। पहले ही दिन काम से लग गया — के सन्तोष के साथ मैं चर्चिल कालेज वापस जाता हूँ।

पैदल चलकर थकूँ नहीं और इस तरह से हॉकिंग के साथ की तस्वीर में चेहरा तरो-ताज़ा दिखलायी दे, इसलिए टैक्सी से नेडो के घर जाता हूँ। उन्होंने श्रीमती हॉकिंग से बात नहीं की। मैं उनसे कहता हूँ कि अब कर लें। वे जल्दी सम्भव न होने का कहते हैं, और सलाह देते हैं कि दुबारा केम्ब्रिज आने पर यह काम पूरा करूँ। मैं कहता हूँ कि मैं यहाँ काम टालने नहीं, पूरा करने आया हूँ और मेहरबानी कर वे मुझे हॉकिंग का घर बतला दें। नेडो ने उस मेज को अपने लिये हासिल कर लिया है, जिस पर विटगेंश्टाईन खुद काम करते थे। मैं उसकी तथा वियेना में अपनी बहन के लिये घर बनवाते समय खुद विटगेंश्टाईन के बनाये एक लड़की के *'बस्ट'* की प्रतिकृति की तस्वीरें लेने के बाद उनके साथ बाहर निकलता हूँ। वे हॉकिंग का घर बतलाते हैं। मेरे मन में शंका जागती है कि सुबह दस बजे उनके घर जाकर मिलना अनुचित होगा और हो सकता है कि इससे नाराज़ होकर वे मुझे मिलने का मौका ही न दे, और इसलिए नेडो से हॉकिंग के विभाग — डिपार्टमेंट ऑफ एप्लाइड मेथेमेटिक्स एण्ड थियोरिटीकल फिजिक्स (डी.ए.एम.टी.पी.) का रास्ता भी पूछ लेता हूँ।

नेडो के जाने के बाद *'काम न टालने और उसे पूरा करने'* की अपनी बात याद आती है और हिम्मत करके अत्यन्त नम्र होते हुए हॉकिंग के घर की घंटी दबा देता हूँ। मुझे शाम चार बजे डिपार्टमेंट में मिलने का समय मिल जाता है।

विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग पास ही था। प्रसन्न मन से मैं वहाँ प्रोफेसर एकवर्ड केग से मिलने जाता हूँ। उन्होंने ही दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रो. अशोक वोहरा के अनुरोध पर *'चर्चिल'* में मेरे रुकने का इन्तज़ाम किया है। विभाग के दफ़्तर में उनके बारे में पूछताछ करता हूँ। उनका कमरा वहाँ से दूर है। विभाग

की सचिव उनसे फोन पर बात करवाती हैं। मेरे आने से वे खुश और निश्चिंत हैं। मुझे 'चर्चिल' में ही लंच के लिये आमन्त्रित करते हैं। समय साढ़े बारह। अब से डेढ़ घंटे बाद। मैं विटगेंश्टाईन की कब्र के लिये, जिसका पता मैंने नेडो से ले लिया है, निकल पड़ता हूँ। वह दूर हैं। रास्ता भी हर एक को नहीं मालूम। पूछते-पूछते आगे चलता जाता हूँ। उस इलाके के आस-पास के लोग भी उस कब्रगाह के बारे में नहीं जानते। एक राहगीर सामने की फूलों की दुकान पर पूछने की सलाह देता है और मुझे वहाँ ले भी जाता है। पर फूलवाली को भी कब्रगाह के बारे में नहीं मालूम। मुझे पास ही एक बूढ़ा अपनी मोटर वेन से कुछ सामान निकालते हुए दिखलायी देता है। उसके पास जाकर मैं कब्र का पता पूछता हूँ। वह बतलाता है। दूरी अभी भी डेढ़ मील है। मैं बढ़ता हूँ और बोर्ड पढ़ते-पढ़ते कब्रगाह में पहुँचता हूँ। तीन कब्रगाह हैं। बिना किसी से कुछ भी पूछे अपने प्रयत्नों से कब्र ढूँढने का तय करता हूँ कि इतना कष्ट तो उठाना ही चाहिए, कि इस कष्ट में एक पवित्रता जो है। घुटनों तक ऊँची घास में चलता हुआ मैं एक-एक कतार की कब्रों के पत्थर पढ़ता हूँ। कम से कम तीन सौ कब्रें हैं — पिछली सदियों की, पिछले दशकों की, पिछले सालों की भी। इच्छा होती है कि न्यूटन या और दूसरे दिग्गजों की कब्र भी खोजता चलूँ, पर लंच पर पहुँचने के लिये मुश्किल से आधा घंटा बजा है और प्रोफेसर केग को इन्तज़ार कराना गलत लगता है, सो विटगेंश्टाईन नाम की तलाश में अन्य नाम अधूरे ही पढ़ता हूँ। जूते, मोजे, पैर भीग रहे हैं, जिससे ठंढ भी लग रही है। पर पवित्रता का अहसास कष्टों की परवाह करने से रोकता है। तीनों कब्रिस्तानों में विटगेंश्टाईन की कब्र नहीं मिलती। बारह बीस हुए हैं और 'चर्चिल' तक पैदल पहुँचने में भी वक़्त लगना है — कितना, यह भी नहीं जानता। कब्र के लिये बाद में आने का तय कर, सड़क पर निकल आता हूँ। किनारे के वर्कशॉप में एक आदमी काम कर रहा है। उसके पास जाकर पूछता हूँ कि यहाँ के कब्रगाहों में कब्र खोजने का कोई तरीका है क्या? वह पूछता है, कि किसकी कब्र खोजना चाहते हो? मेरे *'विटगेंश्टाइन'* कहने पर वह मेरे साथ हो लेता हैं रास्ते में सोचता हूँ कि कब्र पर मेरी क्या प्रतिक्रिया होनी चाहिए? विंटगेंश्टाईन का केथोलिक विश्वास शंकास्पद था। उनकी मृत्यु के बाद उनके एक मित्र को उनकी किसी और के सन्दर्भ में कहीं बात याद आयी और इसे उनके साथ जोड़ते हुए उनके मित्रों ने उन्हें कैथोलिक रीति-रिवाज़ से दफ़नाना तय किया था। पर कई बार उन्होंने यह भी कहा था कि यद्यपि मैं किसी विशेष धर्म को नहीं मानता, पर हर चीज़ को धार्मिक दृष्टिकोण से देखने से भी अपने को रोक नहीं पाता। फिर यह भी सोचा कि मैं खुद कैथोलिक नहीं हूँ और इसलिए क्यों न अपने रीति-रिवाज़ से ही कब्र को नमन करूँ? सवाल उठा कि मेरा अपना कौन-सा रिवाज़? सो तय करता हूँ कि चिंता छोड़ूँ और वहाँ तत्काल जैसी प्रतिक्रिया निकले, उसे निकलने दूँ। वह भला आदमी मुझे चौथे कब्रगाह में ले जाता है, जो पहले मुझे दिखा ही नहीं था। वहाँ पहुँचकर वह दूर से कब्र की ओर इशारा कर लौट आता हैं। विटगेंश्टाईन की लेटे पत्थर की कब्र पर पहुँचते ही तत्काल सेल्यूट ठुकता है — एक के बाद एक तीन बार सेल्यूट करता हूँ। तस्वीरें खींचकर पवित्र उपलब्धि का अहसास लिए मैं वहाँ से निकलता हूँ। 'चर्चिल' का रास्ता पंद्रह बीस मिनट का निकलता है और इत्तफाक से प्रोफेसर केग भी कार पार्किंग में ही मिल जाते हैं। मेरा हिन्दुस्तानी होना मेरी पहचान बनता है और वे सीधे नाम से पुकार कर हैलो कहते हैं।

लंच के दौरान वे मॉरल साइंसेज क्लब की मीटिंग में कार्ल पॉपर और विंटगेंश्टाईन के झगड़े के सम्बन्ध में *'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट'* में छपे कुछ पत्रों का जिक्र करते हैं और इनकी प्रति दर्शन विभाग के दफ़्तर से हासिल करने का सुझाव देते हैं। उनसे विटगेंश्टाईन पर चर्चा होती हैं। वे उन पर काम कर रहे



कुछ और दार्शनिकों के नाम पते बतलाते हैं। उनकी सहृदयता छू लेती है।

स्टीफन हॉकिंग के साथ तस्वीर खिंचवाना है। दिन की थकान तस्वीर में न झलके इसलिये एकाध घंटे कमरे में आराम करता हूँ। सन्तुष्ट हूँ कि कुछ ही घंटों में इतने सारे काम निबट गये हैं और अब तक के जीवन की सर्वश्रेष्ठ तस्वीर खींचने की बात इतनी आसानी से सम्भवता के दायरे में आयी है स्टीफन हॉकिंग—कुछ लोगों की नजरों में आइस्टाईन के बाद दुनिया के सबसे महत्वपूर्ण भौतिकशास्त्री, स्टीफन हॉकिंग —एक ऐसे वैज्ञानिक जो अपने शोध के शुरूआती दिनों से ही मस्तिष्क का स्नायुओं पर से नियन्त्रण कम करते-करते खत्म करने वाली बीमारी—मोटर न्यूरोन डिसीज से पीड़ित हैं और अब दिमाग छोड़ के, जिनके शरीर का कोई भी अंग काम नहीं करता। स्टीफन हॉकिंग—जनरल रिलेटिविटी, क्वाण्टम मेकेनिक्स और थर्मोडायनेमिक्स को एक साथ लाकर ब्रह्माण्ड *'बिग बैंग'* और *'ब्लैक होल'* पर नयी दृष्टि देने वाले सिद्धान्तों को विकसित करने वाले वैज्ञानिक। स्टीफन हॉकिंग—जिनके साथ तस्वीर खिंचवाने में दुनिया का बड़े से बड़ा *'स्टार'* गर्व महसूस करता है और जिनके साथ बैठने के लिये शीलै क्लीन जैसी मशहूर अभिनेत्री दौड़ती अमरिका से आती है।

मैं साढ़े तीन बजे ही डी.ए.एम.टी.पी. पहुँच जाता हूँ— थकूँ नहीं इसलिए दुबारा टैक्सी से ही। जबकि बाद में पैसों की दिक्कत न हो इसलिए सम्भल-सम्भलकर खर्च करता आ रहा हूँ। हॉकिंग का सेकेट्री आधा घंटा पहले आने के लिये मुझे टोकता है मैं एक जुमला जड देता हूँ, *'बेटर टु वेट देन बी लेट।'* डिपार्टमेंट के कैंटीन हॉल में हॉकिंग का कमरा खुलता है। वहाँ इंतजार करता मैं अपना कैमरा तैयार करता हूँ। घुटी चाँदवाली एक युवती के साथ एक व्यक्ति मेरे पास आता है और पूछता है कि किसकी तस्वीर खींचना चाहते हो। मैं *'हॉकिंग'* नाम लेता हूँ तो वह *'अच्छा, अच्छा। वे अभी इधर चाय पीने आयेंगे'* कहता हुआ निराशा से युवती की ओर देखता है, कि जैसे कह रहा हो कि तुम्हारी नहीं खींच रहा। हॉकिंग के कमरे के दरवाजे पर लिखा है *'बॉस सो रहे हैं, डिस्टर्ब न करो'*

सवा चार के करीब उनकी पत्नी दरवाज़ा खोलती है और मुझे अन्दर आने का कहती हैं। घुसते ही मैं हॉकिंग को व्हीलचेअर पर निश्चल पड़े देखता हूँ — ओठ और चेहरा पूरी तरह से लटका हुआ। आँखें स्थिर पर जीवित। शरीर के किसी हिस्से में कोई हलचल नहीं। *'ग्रीटिंग्स प्रोफेसर हॉकिंग'* कहता हूँ। स्पीकर से *'वेलकम टु माय ऑफिस'* सुनायी देता हैं अपना कैमरा श्रीमती हॉकिंग को देते हुए उन्हें तस्वीरें खींचने का निवेदन करता हूँ और खुद हॉकिंग के पीछे जाकर खड़ा होता हूँ। वे दो तस्वीरें खींचती हैं। उनसे कैमरा लेकर मैं खुद दो खींचता हूँ। इसके बाद सवाल करता हूँ कि प्रोफेसर हॉकिंग, मेरी पृष्ठभूमि भी फिजिक्स की हैं फिजिक्स यानी विकास। पर अब मैं *'विकास'* की जगह *'परिवर्तन'* में विश्वास करने लगा हूँ और इसलिये विज्ञान छोड़कर कला-साहित्य में काम करता हूँ। मुझे लगता है कि विकास पर बहुत ज्यादा ध्यान दिया जा चुका है और अब परिवर्त्तन पर मुख्य ध्यान देने की ज़रूरत है इस बारे में आपकी क्या टिप्पणी है? एक मिनट शांति रहती है। मैं श्रीमती हॉकिंग से पूछता हूँ कि क्या वे कुछ कहेंगे? वे कहती हैं कि उनके पीछे जाकर कम्प्यूटर की स्क्रीन पर देखो। मैं उनके पीछे जाता हूँ। हॉकिंग के सामने के, उनकी व्हील चेअर में जड़ी हुई स्क्रीन पर अँग्रेजी के कई शब्द कतारों में मौजूद हैं। हॉकिंग के बायें हाथ की दो उँगलियाँ कम्प्यूटर पैड पर बहुत धीरे-धीरे रेंग रही हैं और स्क्रीन पर के शब्द उछल रहे हैं परिवर्तित भी हो रहे हैं। पर उनसे ऐसा कुछ भी नहीं बन रहा, जो समझ में आ सके दो-तीन मिनट बाद मुझे स्पीकर से सुनायी देता है कि अब में चाय पीने हॉल में जाऊँगा। श्रीमती हॉकिंग मुझसे हॉल मैं जाकर इन्तज़ार

करने का कहती हैं। मैं बाहर आता हूँ। कुछ देर इन्तज़ार करता हूँ और याद आता है कि नेडो ने वीडियो के लिये चार बजे फोन करने का कहा था। हॉल के बाहर जाकर हॉकिंग के एक और सेक्रेटरी से फोन करने देने का अनुरोध करता हूँ कि बाहर सड़क पर जाने पर देर हो जायेगी। वह कहता है कि यहाँ से किसी को इजाज़त नहीं, वहीं से करो। सड़क पर कोने पर बूथ है। मैं लगभग दौड़ता हुआ जाकर फोन करता हूँ, पर नेडो अपने दफ्तर से दो बजे से ही गया हुआ हैं। वीडियो के बारे में उसके सेक्रेटरी को कुछ नहीं मालूम। निराश होकर वापस हॉल में आता हूँ तो पाता हूँ कि तीन चार युवकों से घिरे हॉकिंग को श्रीमती हॉकिंग चाय पिला रही हैं। ओठों के अन्दर कुछ बूंदें और बाकी गर्दन से लटके विशेष प्रकार से बने स्कार्फ पर गिर कर नीचे जमा हो रही हैं। वे एक गोली भी ओठों के अन्दर रखती हैं। इच्छा होती है कि यह सब कैमरे में उतार लूँ, पर श्रीमती हॉकिंग के नाराज़ होने का डर रहता है, सो इच्छा दबा जाता हूँ। पास खड़े युवक से पूछता हूँ कि क्या आप लोग बॉस के शोध छात्र हैं। उसके 'हाँ' कहने पर आगे पूछता हूँ कि इन दिनों आप लोगों की किस समस्या में दिलचस्पी है। उसका जवाब *'टाइम ब्रेकडाउन'* मुझे चकरघिन्नी कर देता है। उससे अनुरोध करता हूँ कि क्या अपने सारे शोध-पत्र की प्रीप्रिंट दे सकता है। वह 'ज़रूर' कहता हुआ हॉल के दूसरी ओर के अपने कमरे में ले जाता हैं। वहाँ कम्प्यूटर पर कुछ बटन दबाता है और फिर मुझे पीछे आने को कहता है। हॉल के बाहर के दूर के एक कमरे में प्रिंटर ही प्रिंटर हैं वह एक प्रिंटर के पास जाता है और पाँच मिनट में अठारह पृष्ठों के *'थ्रेक्शीटेशनल एन्ट्रोपी एण्ड ग्लोबल स्ट्रक्चर'* शीर्षक के एस. डब्ल्यू. हॉकिंग एण्ड सी. जे. हण्टर द्वारा लिखित शोध-पत्र की एक प्रति स्टेपल करके मुझे देता है। मैं लगभग दौड़कर वापस हॉल मैं आता हूँ। पर हॉकिंग वहाँ से जा चुके हैं। उनके कमरे का दरवाज़ा खटखटाता हूँ। श्रीमती हॉकिंग के खोलने पर उनसे अनुरोध करता हूँ कि कुछ और क्षण उनके साथ बिताने का अवसर दें। वे मना करती हैं कि अब वे अपने काम में व्यस्त हैं। मैं बहुत-सा निराश और थोड़ा-सा सन्तुष्ट होकर डी.ए.एम.टी.पी. से बाहर निकलता हूँ कि काश नेडो के चक्कर में न पड़ता, कि काश इस भेंट के लिये थोड़ी और तैयारी करता कि काश ब्रह्माण्ड के इस विज्ञान-कवि के साथ कुछ और वक़्त गुजार पाता।

नेडो से उस दिन सम्पर्क नहीं हो सका। मैंने उसे रात खाने पर आमन्त्रित किया था, तो भी न आया और न ही फोन किया। दूसरे दिन सुबह से उसे फोन करने के चक्कर में लगता हूँ कि विंटगेंश्टाईन वाला वीडियो देखना ही देखना है, कि आखिर उसकी जीवनी और दर्शन पर नाटक लिखने का काम है और चाहे भारत में वे अपेक्षाकृत कम मशहूर हों पर पश्चिम में बहुत मशहूर है और इसलिये अनचाहे ही दूसरों के काम को दुहराने का ख़तरा है और इसलिए दूसरों ने क्या और कैसे किया — यह देखना जरूरी है। अंततः नौ बजे उससे सम्पर्क होता हैं वह कहता है कि ठीक दस बजने में दस मिनट पर टैक्सी लेकर उसके घर पर आऊँ, टैक्सी खड़ी रखूँ और अहाता पार कर उसके दरवाजे की घंटी बजाऊँ। वह मेरे साथ उसके दफ्तर जायेगा, वहाँ रखा वीडियो मुझे देगा और उसी टैक्सी से हवाई अड्डे को निकलेगा।

मैं टैक्सी पकड़ता हूँ। सड़क पर टैक्सी छोड़कर, अहाता पार कर उसके दरवाज़े की घंटी बजाता हूँ। वह दरवाज़े के पीछे ही एक भारी सूटकेस के साथ खड़ा है। छूटते ही मुझसे सूटकेस उठाकर टैक्सी में रखने को और खुद ताला लगाकर आने का कहता हैं। मैं अपमानित महसूस करता हूँ, पर चूँकि वीडियो लेना है, इसलिये अपमान पीकर भारी सूटकेस उठा टैक्सी की ओर चल देता हूँ। नेडो दो मिनिट बाद लगभग खाली हाथ मेरे पीछे आता हैं ऑफिस पहुँचने पर इसी शर्त्त के बाद वीडियो लाकर देता है कि देखने



के बाद इसे ऑफिस में पहुँचाने की ज़िम्मेदारी मेरी है; मैं उससे मुझे दर्शन विभाग में छोड़कर टैक्सी ले जाने को कहता हूँ। टैक्सी में वह वीडियो लौटाने की बात दुहराता है। अब तक का टैक्सी का किराया देने का मैंने तय किया हुआ है, पर वह दर्शन विभाग पहुँचने के पहले ही मुझसे ऐसा करने को कहता है और मैं नाराज़गी दिखलाते हुए कहता हूँ कि हम भारतीय सच्चे व्यवहार को ही मानते हैं, मिस्टर नेडो और ऐसा कहकर तुमने मुझे अपमानित किया है वह माफी माँगता है पर मैंने तय किया है कि अपमानों का बदला खुद वीडियो वापस न कर तथा उसके दफ़्तर उसे सचिव को फोन पर इसे 'चर्चिल' से उठाने का कहकर लूँगा। आगे मैं ऐसा ही करूँगा भी।

दर्शन विभाग के दफ़्तर से फोन कर मैं प्रो० के से वीडियो देखने का इन्तजाम करने का अनुरोध करता हूँ। दो-तीन मिनट बाद ही उनका फोन आता है कि 'चर्चिल' में ही इन्तज़ाम हो गया है और वहाँ ऊपर के कॉन्फरेंस हॉल में मैं जितनी बार और जितनी देर चाहूँ वीडियो देख सकता हूँ। 'चर्चिल' पहुँचकर मैं दो वियेना पुत्रों — दार्शनिक लुडविग विंटगेंश्टाईन और संगीत-रचनाकार एर्नाल्ड शोइनबर्ग पर, चेनल ४ के लिये किस्टोफर न्यूपेन द्वारा निर्देशित फिल्म, *'द लैंग्वेज ऑफ क्यू म्यूजिक'* दो बार देखता हूँ। इस बात से सन्तोष होता है कि फिल्म में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे लिखने की मेरी योजना हैं। इन दो महापुरुषों के अपने-अपने क्षेत्रों की भाषाओं में किये योगदान को फिल्म रेखांकित करती हैं इसमें दिये हुए विंटगेंश्टाईन के उद्धरण मुझे मालूम है, पर मेरे जैसे भुलक्कड़ को उनकी याद दिलाना भी महत्त्वपूर्ण ही है।

मुझे बताया गया है कि विंटगेंश्टाईन की महत्त्वपूर्ण शागिर्द श्रीमती एनस्कोम उनके सम्बन्ध में अब किसी से बात नहीं करना चाहतीं। बहुत बूढ़ी भी हो गयी है। उन्होंने फोन पर ही अपनी असमर्थता बतला दी हैं। नेडो ने श्रीमती जेन बेवान से मेरे लिये कह दिया है। उसने मुझे यह भी बतलाया था कि वे केम्ब्रिज से करीब दस मील के फासले पर वे रहती हैं और मैं उनसे फोन पर समय लेकर टैक्सी लूँ, उनके यहाँ जाऊँ तथा वापसी के लिये टैक्सी खड़ी रखूँ। अपने अन्तिम दिनों में प्रोस्टेट के कैंसर से पीड़ित विंटगेंश्टाईन डॉ. एडवर्ड बेवान की देखरेख में उनके घर पर ही रहते थे और श्रीमती बेवान उनकी देखरेख करती थीं। मैं श्रीमती बेवान को फोन करता हूँ। वे पूछती हैं कि मेरे पास अपनी कार है क्या? मैं टैक्सी से आने का कहता हूँ। वे कहती हैं कि वे खुद अगली सुबह अपनी कार में 'चर्चिल' आयेगीं और मैं ठीक ग्यारह बजे पोर्टर्स लॉज की सीढ़ियों पर उनका इन्तजार करूँ। बयासी वर्षीया इस महिला के व्यवहार से मैं अभिभूत होता हूँ। ठीक ग्यारह बजे वे कार में से निकलती है और हाथ हिलाकर मुझे नीचे बुलाती है। मैं उन्हें ऊपर बार में बैठकर बात करने को न्यौतता हूँ। वे कहती हैं कि सीढ़ियाँ चढ़ने से उनके घुटनों में बहुत दर्द होता है, कि पास ही उनके मित्र का घर है, जहाँ बैठकर हम बातचीत करेंगे। विंटगेंश्टाईन से सम्बन्धित बातें वे एक डायरी में नोट करके लायी हैं। उसे देखकर बोलने के पहले मुझसे नोटबुक कलम लेकर तैयार होने को वे कहती हैं। विट के जुमलों, उनकी आदतों, उनके हावों-भावों, उनकी दिनचर्या, उनके तकियाकलाम, उनसे मिलने आने वालों और विशेषकर प्रोफेसर जी. ई. मूर के सम्बन्ध में वे बहुत कुछ बतलाती हैं। एक वाक्या उल्लेखनीय है— प्रोफेसर मूर को ऑर्डर ऑफ मेरिट से सम्मानित करने के लिये बकिंघम पैलेस में न्यौता गया है; दूसरे विश्वयुद्ध समाप्त होने के चार-पाँच वर्ष बाद का समय है। मूर अपनी पत्नी के साथ वहाँ जाते हैं। पत्नी को बुलाया नहीं गया है, सो वे टैक्सी में ही रुकती हैं और उनसे कहती हैं कि मीटर चालू है, इसलिये जल्दी लौटना। सम्मान के बाद वापस आकर मूर उनसे शिकायत करते हैं कि ये कैसा सम्राट है, जो विंटगेंश्टाईन को बिलकुल नहीं जानता।

श्रीमती बेवान का पुराना घर *'स्टोरीज एण्ड'*, जिसे उन्होंने 'चर्चिल' को बेच दिया है, सामने ही है। मैं उनसे वहाँ चलकर तस्वीर खिंचवाने का अनुरोध करता हूँ। सड़क चलते एक आदमी को पकड़कर उससे उनके साथ अपनी तस्वीरें खिंचवाता हूँ।

सेंट स्टीफन कॉलेज की श्रीमती जेन हील बिंटगेंश्टाईन के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विरोधी रुख से असहमत हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि यहाँ विंटगेंश्टाईन का दृष्टिकोण अतिवादी ज़रूर है, जैसा कि अन्य कुछ मामलों जैसे कि संगीत को लेकर भी है, पर यह हमें एक रेखीय हो चले सोच के प्रति आगाह तो करता ही है। किसी प्रकार के वर्चस्व के वे खिलाफ लगते हैं, यहाँ तक कि ईश्वर के वर्चस्व के भी और विट ने अपने दोस्त मॉरिस ड्रूरी से कही इस बात को उद्धृत करता हूँ कि यदि मैं भगवान को हमारे जैसा ही पर हमसे कई गुना ताकतवर जीव समझता होता तो निश्चय ही उसकी खिलाफ़त करना अपना कर्तव्य मानता। हील टीवी पर विंटगेंश्टाईन सम्बन्धी एक फिल्म देखने का ज़िक्र करती है। मैं उनसे इसके बारे में पूछता हूँ तो कहती हैं कि नाम याद नहीं आ रहा है, पर इसे मैंने टेप कर लिया था, पर बच्चों ने इसे मिटा उसकी जगह कुछ और टेप कर लिया। विंटगेंश्टाईन का अध्ययन कर रहे एक दार्शनिक की इस तरह की लेतलाली से मुझे विट के केम्ब्रिज के बारे में कहे इस जुमले की कि 'केम्ब्रिज' में ऑक्सीजन ही नहीं है और मैं अपने लिये ऑक्सीजन खुद बनाता हूँ की याद आती हैं।

'चर्चिल' के भोजन कक्ष में नाश्ता करते हुए इत्तफाक से लन्दन की एलिसेज डिनर थियेटर कम्पनी के एक रंग-निदेशक रोड्डी मौडे-रोक्सबी से मुलाकात होती हैं। वे आस्ट्रेलिया से आये एक रंग-निर्देशक की मदद को दो दिन के लिये आये हैं। यह रंग-निर्देशक 'चर्चिल' के विद्यार्थियों से एक आस्ट्रेलियाई नाटक करवा रहे हैं। रोक्सबी नाटक करने के अपने दिलचस्प तरीके के बारे में बतलाते हैं कि इसमें किसी भी समय अभिनेता का प्रवेश स्वीकृत है। वे भाषाई टकराव के अपने प्रयोगों के बारे में भी बतलाते हैं। इसमें एक कलाकार को दो भाषाएँ आती हैं और दूसरे को इनमें से केवल एक। और दोनों एक-दूसरे से संवाद स्थापित करने की कोशिश करते हैं और सिर्फ़ एक भाषा जानने वाले की गलतियों को दोनों भाषाएँ जानने वाला सुधारता है और संवाद आगे बढ़ता है और दर्शक भी इसमें हिस्सेदारी करने लगते हैं और उन्हें एक जीवन्त नाट्यानुभव और ज्ञानानुभव मिलता है और वे बतलाते हैं कि एक बार तो उस अँग्रेज लड़की की तुलना में जो दोनों भाषाएँ जानती थी, अकेली जापानी भाषा जानने वाली लड़की के सम्प्रेषण को दर्शकों ने अधिक सराहा। रोक्सबी अन्य कई रंग-खेलों की बात करते हैं और बतलाते हैं कि वे हवाई अड्डे के और रेलवे स्टेशन के दृश्यों को सार्वजनिक स्थलों पर बनाते हैं और दर्शकों को भी रंगानुभव में हिस्सेदारी करने को आमन्त्रित करते हैं और कई बार दर्शक हमारे अभिनेता-अभिनेत्रियों से अच्छा काम कर जाते हैं।

केम्ब्रिज से निकलने के पहले मैं आस्ट्रेलियाई निर्देशक का रिहर्सल देखने जाता हूँ। वे एक आस्ट्रेलियाई नाटक *'द हार्वेस्ट सर्कल'* करा रहे हैं। अभिनेताओं का इन्तज़ार और कुछ अभिनेताओं के आने की शौकिया रंगमंच की समस्याएँ वहाँ भी हैं। मुझे रिहर्सल कच्चा और कमज़ोर लगता है और इसलिए थोड़ी ही देर में वहाँ से निकल पड़ता हूँ।

केम्ब्रिज-लंदन बस यात्रा रेलयात्रा की तरह ही आरामदेह थी। लंदन आकर अपने नये बने मित्र राकेश माथुर के लंदन स्थित एक कमरे के फ्लैट में मैं रुकता हूँ। उसकी मदद से एक लैपटॉप खरीदता हूँ और वह मुझे एक दुकान से डेरिक जार्मन की बर्लिन फिल्म समारोह में दिखलायी 'विंटगेंश्टाईन' फिल्म की कैसेट



भी खरीदवा देता हैं रात को उसके कमरे में हम इसे देखते हैं। फिल्म खूबसूरत है इसमें बाल्यरूप विंटगेंश्टाईन सूत्रधार की भूमिका करता है। मैं इसे पुनर्जन्म की हिन्दू कल्पना से जोड़ते हुए देखता हूँ। राकेश मेरी व्याख्या से खुश होता है, कि इस हिसाब से फिल्म अच्छी तरह से समझ में आती है। पर फिल्म मैं एक मंगलग्रहवासी का लाना मुझे अटपटा लगता है बहुत ज्यादा कोन्ट्राइव्ड। दो अक्टूबर का दिन है यह इत्तफाक है कि लगभग रोज मांस खाने वाले हम दोनों ने इस दिन बिना इस बात को ध्यान में रखे कि आज कि आज गांधी जयंती है, दिन भर न तो माँस खाया और न ही शराब पी। इस बात का अहसास होते ही हम तय करते हैं कि अब शराब भी नहीं पियेंगे।

हीथ्रो से वियेना के लिये सुबह-सुबह जहाज पकड़ना है अपना इधर-उधर बिखरा सामान जमा करने में एक दिन लग जाता है। रात को राकेश टैक्सी के लिये फोन करता है जो टैक्सी राजी होती है, वह पच्चीस पौण्ड माँग रही है। राकेश को यह ज्यादा लगता है और वैसे भी मेरे लिये नगद इतने पैसे देना कठिन है। वह मुझे आश्वस्त करता है कि सुबह सस्ती टैक्सी का इंतज़ाम कर देगा और हम लोग सोते हैं। टैक्सी नहीं मिलती तो वह घरेलू कपड़ों में ही अण्डरग्राउंड से पिम्लीको स्टेशन तक छोड़ने आता है। हीथ्रो तक का आगे का सफ़र कैसे करना, वह समझा देता है। मैं टिकट खरीदता हूँ और उससे विदा लेता हूँ और खाँचे में टिकट डालकर बेरियर के दूसरी ओर आता हूँ और देखता हूँ कि नीचे जाने का ज़ीना बहुत गहरा है। मोटे चश्मे से झाँकते हुए, भारी सूटकेस और दो अन्य नगों के साथ नीचे उतरने के विचार से मेरे हाथ पैर फूलते हैं। आँख की तकलीफ से वैसे ही उतरना मेरे लिये दुष्कर काम है। मैं जोर से राकेश को आवाज देता हूँ। वह लौटता हैं। आवाज सुनकर रेलवे का एक नीग्रो अधिकारी भी कहीं से बाहर आता है। मैं जेब से साढ़े तीन पौण्ड निकालते हुए राकेश से कहता हूँ कि टिकट खरीद कर वह मुझे नीचे तक छोड़ दे और फिर वापस चला जाय। नीग्रो अधिकारी को मेरी अड़चन समझ में आती है और वह बिना टिकट के ही एक ओर की रूकावट हटाकर राकेश को नीचे आने देता हैं। राकेश न होता, तो मेरा सीढ़ियाँ उतरना और वियेना का जहाज पकड़ना असम्भव था।

## आस्ट्रिया

वियना में दो दिन रुककर आस्ट्रियाई साहित्य संघ से सम्पर्क और चर्चा करने तथा वापस आकर काम का सिलसिला तय करने के बाद मैं किर्शबर्ग अम वेश्चेल के लिये निकल पड़ता हूँ। वहाँ डॉ. एडोल्फ ह्यूबनर तथा उनकी पहली पत्नी लोने की पहल पर आस्ट्रिअन लुडविग विंटगेंश्टाईन सोसायटी की स्थापना की गयी है सात सौ आबादी वाले इस गाँव में सोसायटी का इन्टरनेट आदि से सुसज्जित सर्वसुविधायुक्त दफ़्तर, संग्रहालय और पुस्तकालय है। हर साल अगस्त के महीने में यह सोसायटी दर्शन के किसी विषय पर एक अन्तरराष्ट्रीय संगोष्ठी करती हैं। १९९१ में एक संकट आया। कमेटी ने *'व्यावहारिक नीतिशास्त्र'* (अप्लाइड एथिक्स) विषय को संगोष्ठी के लिये तय किया और इस विषय पर अन्तरराष्ट्रीय ख़्याति के विद्वान पीटर सिन्गर को आमन्त्रित करने का तय किया। वे मर्सी किलिंग के समर्थक थे। अखबारों में, रेडियो-टीवी पर इस पर खूब विवाद उठा। निमन्त्रण वापस लेने या संगोष्ठी ही रद्द करने के पर्यायों में दूसरा माना गया। ह्यूबनर ने इस विवाद के कारण न सिर्फ़ अध्यक्ष पद से बल्कि समिति से भी इस्तीफा दे दिया। वर्तमान में पॉल वाइनगार्टनर इसके अध्यक्ष, रूडोल्फ डालर तथा एजीज़ाबेथ लाइनफेल्नर उपाध्यक्ष तथा जॉर्ज डोर्न प्रमुख सचिव हैं।

पहली जगत जंग में युद्धबंदी शिविर से छूटकर वियेना में टीचर्स-ट्रेनिंग करने के बाद विंटगेंश्टाईन किर्शबर्ग के पहाड़ों के गाँवों के स्कूलों में मास्टर बन कर पढ़ाने आये थे और करीब छह साल तक रहे। किर्शबर्ग तक रेल नहीं जाती। पास के स्टेशन क्लॉगनिट पर डॉ. ह्यूबनर मुझे अपनी कार में लेने आते हैं। अत्यन्त सहज और सहृदय व्यक्ति। घने जंगलों वाली पहाड़ियों का सौन्दर्य अद्भुत है। किर्शबर्ग यद्यपि सात सौ आबादी वाला एक गाँव है, पर हमारे यहाँ के किसी भी मध्यम दर्ज़े के शहर से अधिक साफ़-सुथरा और अधिक सुविधाओं से युक्त है। अच्छे मकान, बढ़िया सड़कें, सभी तरह का सामान बेचनेवाली बड़ी दुकानें, फल-फूल पेड़। खेत बहुत कम, जंगल बहुत ज्यादा। डॉ. ह्यूबनर बतलाते हैं कि खेती करना फायदेमंद नहीं हैं। जंगल ज्यादा फायदेमंद, गर्मियों में युवा सैलानी आते हैं और सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में अपने अकेलेपन से ऊबे बूढ़े-बुढ़ियाएँ। एक-दो बहुत अच्छे गेस्ट हाऊस किस्म के होटल हैं। उन्हत्तर साल के डॉ. ह्यूबनर ने दो साल पहले एक विधवा—अन्ना मारिआ— से दूसरी शादी की है। अन्ना मारिआ के लड़के की पास के एक गाँव में बेकरी है, जिसके काम में मदद देने के लिये अन्ना मारिआ दिन में वहाँ आती है। ह्यूबनर का बेटा पास के एक-दूसरे गाँव में मछलियों भरे तालाब से युक्त एक होटल चलाता है, जहाँ सैलानी काँटे से मछली पकड़ने का आनन्द उठाने के लिये रुकते हैं। ह्यूबनर मुझे अपने घर ले जाते हैं और फ्रूट टी पिलाते हैं, जो बहुत स्वादिष्ट है कुछ देर बाद सोसायटी की मुलाज़िम उर्सुला अपनी कार में आती हैं और मुझे मेरे रुकने की जगह वुल्फगॉग गेस्ट हाऊस में ले जाती हैं। केवल उसे और ह्यूबनर को अँग्रेजी बोलना आता है होटल में बातचीत करने में वह मेरी मदद करती हैं। होटल साफ़-सुथरा और अच्छा है होटल का मालिक उसका मामा है, सो मेरा विशेष ख्याल रखता है। वह तालकशुदा है और अपने बेटे के साथ रहती है। रविवार को बेटे का बाप उसे अपने घर ले जाता है और उस दिन उर्सुला का शादी-शुदा प्रेमी उसके साथ रहने के लिये आता है। बेटे के सामने प्रेमी कभी नहीं आता। प्रेमी से मिलाने के लिये वह एक रविवार को मुझे होटल से ले भी जाती हैं। मेरे पास लैपटॉप होने से मैं रात में या दिन में जब मर्जी होती है तब अपना नाटक लिखने का काम करता हूँ, पर दुर्भाग्य से अँग्रेजी में ही कर पाता हूँ, क्योंकि दिल्ली से खरीदा हुआ हिन्दी फॉण्ट का सोफ्टवेयर लोड नहीं हो पाया है।

अगले दिन ह्यूबनर मुझे अपनी कार में किर्शबर्ग पहाड़ के ट्राटनबाख गाँव में ले जाते हैं। इसके स्कूल में विटगेंश्टाईन पहले-पहले मास्टर बनके आये। विरासत में मिली अपनी अपार सम्पत्ति अपनी दो बहनों और एक भाई के नाम करने के बाद — जानबूझ कर एक अत्यन्त गरीब और दुर्गम स्कूल में पढ़ाने के लिये। वे एक सख़्त शिक्षक थे और जवाब न बनने पर बच्चों को और विशेषकर लड़कियों को बहुत पीटते थे। पर उनमें से कुछ होनहार बच्चों को अपने कमरे में अतिरिक्त रूप से पढ़ाते थे। ह्यूबनर मुझे पहाड़ के ऊपर उस स्थान पर ले जाते हैं, जहाँ के गेस्ट हाऊस में विटगेंश्टाईन अक्सर रात को रुक जाते थे और किसी लड़के से अपनी घर-मालकिन के यहाँ से खाना मँगा लेते थे। मालकिन कागज़ पर डबल रोटियों की संख्या लिख देती थी। एक बार पाँच लिखी रोटियों की जगह चार ही निकली। विटगेंश्टाईन ने अपनी नोटबुक में लिखा कि इस तरह से गरीब बच्चों पर चोरी के लिये शक करना गलत है। पहाड़ के पेड़ों पर जगह-जगह ह्यूबनर ने विटगेंश्टाईन की किताब *ट्रेक्टस लोजीको फिलोसोफीकस* की स्थापनाएँ लिखीं तख़्तियाँ गढ़वा दी हैं। इन तख़्तियों के नीचे हम एक-दूसरे की तस्वीरें खींचते हैं।

नीचे पहुँचकर ह्यूबनर मुझे सोयायटी द्वारा गाँव में बनाया विटगेंश्टाईन संग्रहालय दिखलाते हैं। इसमें वह पलंग हैं, जिसे केम्ब्रिज पढ़ाई करने के दौरान विट ने अपने लिये खुद डिज़ाइन करवाया था और



पहले-पहले केम्ब्रिज छोड़ने पर जिसे उन्होंने बर्ट्रेण्ड रसैल को बेच दिया था। रसैल की मौत के बाद यह उनकी बेटी के पास रहा, जिसने इसे सोयायटी को दान दे दिया और आस्ट्रियाई विदेश विभाग के सौजन्य से वह संग्रहालय में लाया गया। इसमें दवात के खाने वाली वे डेस्के हैं, जिन पर विट के विद्यार्थी पढ़ते थे। अस्थियों से बना बिल्ली का वह कंकाल भी है, जो विटगेंश्टाईन ने ऐनेटॉमी पढ़ाने के लिये गाँव में मरी एक बिल्ली को हड्डियों से बच्चों के सामने किताब पढ़-पढ़ कर बनाया था। उन्होंने मुझे वह खिड़की भी दिखलायी जहाँ शाम को बैठकर विट क्लेरनेट बजाते थे और सामने से गुजरने वाली स्कूल की बच्ची को बुलाकर गाना गवाते थे।

इसके बाद हम गाँव के गेस्ट हाऊस में खाना खाते हैं और फिर ह्यूबनर मुझे यहाँ के स्कूल में विटगेंश्टाईन के विद्यार्थी रहे ८८ साल के योहान शैइबेनबाऊर से मिलवाने ले जाते हैं। आवाज़ देने पर वे बाहर अहाते में आते हैं। ह्यूबनर मेरी तारीफ़ के पुल बाँधते हैं और बतौर लालच मेरे द्वारा विटगेंश्टाईन पर फिल्म बनाने की योजना होने का ज़िक्र भी करते हैं। मैं उनकी तस्वीरें लेता हूँ। खुश होकर वे हमें अन्दर आने और बैठकर वाइन पीने के लिये न्योतते हैं। अन्दर वे ९१ साल की अपनी चुस्त-दुरूस्त पत्नी मरिआ से मिलवाते हैं और रेड वाईन की बोतल खोलते हैं। विटगेंश्टाईन की बातें छिड़ने पर उनकी पत्नी बतलाती हैं कि वे भी उनकी विद्यार्थी रह चुकी हैं। यह बात ह्यूबनर को भी नहीं मालूम होती और इस जानकारी से वे भी खुश होते हैं। वाइन पीती हुयी मारिआ बहुत अच्छी लग रही है। मैं उनकी तस्वीरें खींचता हूँ। मारिआ बतलाती हैं कि यद्यपि वे गणित में कमज़ोर थी, पर अन्य विषयों में होशियार थी और इसलिये विटगेंश्टाईन उन्हें चाहते थे और उन्हें केवल एक बार हलके से पीटा था। दोनों विट के बारे में बहुत-सी जानकारी देते हैं। मैं अपनी नोटबुक निकालकर उनसे दस्तखत करने को कहता हूँ। वे बड़े खूबसूरत अक्षरों में अपना पूरा नाम लिखती हैं। इसके बाद मैं योहान की ओर नोटबुक बढ़ाता हूँ। वे छोटे और अपेक्षाकृत गन्दे अक्षरों में दस्तख़त करते हैं। मारिया चुटकी लेती है कि चूँकि मेरे पति ठिंगने हैं, इसलिये उनके अक्षर भी छोटे हैं। मैं ताज्जुब दिखलाता हूँ कि उस जमाने में भी कम उम्र के लड़के और ज्यादा उम्र की लड़की में शादी होती थी। मारिआ बतलाती हैं कि शादी तब भी दिल की बात ही होती थी। ह्यूबनर पूछते हैं कि आप लोग शादी के पहले कहाँ मिले थे। मारिआ बतलाती है कि ओटरथाल में। ह्यूबनर *'मीट एण्ड मेरी एट ओटरथाल'* का मुहावरा बनाते हैं। योहान हमें ऊपर पहली मंजिल पर ले जाकर वह कमरा दिखलाते हैं, जिसमें विट कुछ दिन रूके थे। मैं मारिआ के स्वास्थ्य की तारीफ करता हूँ और अपना कार्ड देते हुए उनसे कहता हूँ कि अगर उन्होंने अपने सौवें जन्मदिन पर मुझे बुलाया तो मैं जरूर आऊँगा। मैं उनसे पूछता हूँ कि विटगेंश्टाईन के लिये क्या उन्होंने कभी गाया था? वे 'हाँ' में जवाब देती है और ह्यूबनर के कहने पर अपनी मीठी आवाज़ में जर्मन गीत की दो कड़ियाँ सुनाती हैं। ह्यूबनर मेरे लिये इन्हें नोटबुक में उतारते हैं। विदा होते समय वे मुझे और ह्यूबनर को किर्शबर्ग शहद की एक-एक सुन्दर बोतल भेंट करती हैं और बतलाती हैं कि उनकी तन्दुरूस्ती का राज रोज एक चम्मच शहद पीना है।

अगले दिन ह्यूबनर विटगेंश्टाईन के एक और विद्यार्थी से मिलवाते हैं। पर अब तक के तीनों व्यक्ति विट से खुश नज़र आये — हो सकता है कि इतने सालों बाद और इलाके में विटगेंश्टाईन के नाम से इतना कुछ होने के बाद वे चालाकी दिखा रहे हों और वैसे भी विटगेंश्टाईन केम्ब्रिज में पढ़ाने लगने के बाद प्रायश्चित स्वरूप अपने व्यवहार पर माफ़ी माँगने के लिये इन गाँवों में घूमे थे और उन्होंने अपने विद्यार्थियों तथा उनके जीवित अभिभावकों से मिलकर बाकायदा उनसे क्षमा याचना की थी, और इसलिए हो सकता है कि उन्हें माफ़ कर देने के बाद ये लोग उनके बारे में कुछ भी बुरा कहना उचित न समझते हों। बहरहाल,

उन्होंने चाय पी है, हम दोनों ने वाइन। मैं उनसे पूछता हूँ कि पहले पहले आप आप एक-दूसरे से कब मिले थे। ह्यूबनर बतलाते हैं कि हम दोनों एक-दूसरे को पहले से जानते थे। मैं इन्हें पसन्द भी करता था। शायद ये भी मुझे। - क्यों अन्ना मारिआ? वे शर्माती हैं और मैं जोर से हँस पड़ता हूँ। वे और अधिक शर्माती हैं। ह्यूबनर जारी रखते हैं,' जब हम मिले तो ये विधवा हो गयी थी और मेरी पहली पत्नी को गुज़रे करीब साल भर हो गया था। मैंने इनसे शादी के लिये कहा और ये मान गयी। मेरी दो बेटियाँ और एक बेटा है, इनका एक बेटा और एक बेटी है। वे सब अपने-अपने धंधों में, अपने-अपने परिवारों में रम गये थे, सो उनकी कोई समस्या नहीं थी।

ह्यूबनर से आखिरी मुलाकात १३ अक्टूबर, ९८ को हुयी थी और २४ अप्रैल, ९९ को ग्वालियर में मुझे संदेश मिलता है कि २० अप्रैल ९९ को वे नहीं रहे। बहुत दुःख होता है। विटगेंश्टाईन के लिये इतना कुछ करने वाले व्यक्ति का सिर्फ़ सत्तर साल की उम्र में जाना, जबकि उनसे बीस-बाईस साल बड़े व्यक्ति उनके ही इलाके में स्वस्थ जिन्दगी जी रहे हों, अजीब लगता है। मैं खुद ऐसे कई व्यक्तियों से किर्शबर्ग में ही मिलता था। उर्सुला की मदद से होटल में बतियाता भी था। मैं विटगेंश्टाईन सोसायटी को अपना शोक-संदेश भेजता हूँ और उन्हें याद करता हूँ, कि एक वेटर्नरी डाक्टर कितना कुछ कर जाता है। वियेना में भी वे विटगेंश्टाईन के जीवनीकार के रूप में मशहूर थे। पाप को लेकर एक व्यक्तिगत उलझन के चलते किसी ने उन्हें विटगेंश्टाईन के बारे में बतलाया और उन्होंने न सिर्फ़ उनके जीवन के बारे में जाना बल्कि ट्रेक्टेटस को पढ़ने-समझने की कोशिश भी की। लेकिन वे विटगेंश्टाईन के अन्धभक्त नहीं थे। विट के इस कथन को कि *'दुनिया के प्रश्नों के हल दुनिया के बाहर हैं'* उन्होंने चुनौती देने का तय किया, और भौतिकी में बुनियादी योगदान करने की धुन में लग गये। उन्होंने यह बात स्थापित करने के लिये कि *'दुनिया बुनियादी गणितीय इकाइयों से गढ़ी गई है'*, एक फॉर्मूला भी गढ़ा। भौतिकी के विद्वानों ने उनकी स्थापनाओं को बकवास बतलाने और हर शोध पत्रिका द्वारा उनके लेख अस्वीकार करने के बावजूद वे अपना काम बढ़ाने में लगे रहे और मुझसे बोले थे कि बस छह-आठ महीनों की बात है, मैं कुछ ऐसे समीकरण देने वाला हूँ, जिससे दुनिया का सोच उलट-पुलट जायेगा। मैंने उन्हें अपना एक लेख पढ़ने को दिया था, जिसमें तर्क और विज्ञान की अति होने की आलोचना की गयी है। उसे पढ़ने के बाद वे बोले थे कि आपके और मेरे सोच में समानता है, कि आप *'लॉजिक'* के खिलाफ हैं, *'रेशनेलिज्म'* के नहीं, जिसकी कि मैं बात करता हूँ, और इसलिए हमें एक-दूसरे का साथ देना चाहिए और दोनों की शक्ति जोड़ना चाहिये। मैंने उनसे बहस करना उचित नहीं समझा था, पर ये जरूर कहा था कि अपने नाटक में आपको एक चरित्र बनाने की सम्भावना मुझे दिखलायी दे रही है। कोशिश के बावजूद *'पढ़ो फारसी बेचो तेल'* की पाण्डुलिपि में न वे और न ही उनकी बात आ सकी, कि कला में जबर्दस्ती करना अपवित्रता है, पाप है। सो प्रिय डॉ. ॲडोल्फ ह्यूबनर, इस लेख में दिये हवाले के जरिये ही आपको सलाम कर रहा हूँ।

ग्राज में विटगेंश्टाईन सोसायटी के उपाध्यक्ष प्रोफेसर हालर से इस संस्था के पहले अध्यक्ष ह्यूबनर के बारे में जब चर्चा हुयी तो उनका कहना था कि उन्होंने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देने के लिये कारण तो सिम्पोजिअम का मर्सीकिलिंग विषय बतलाया था, पर असली कारण उनकी अफ़लातूनी बातों को सोसायटी के अन्य दार्शनिकों द्वारा महत्त्व न दिया जाना था, कि भौतिक-शास्त्रियों द्वार अस्वीकार किये जाने पर व चाहते थे कि दार्शनिक उनके विचारों को महत्त्व दें।



मेरी योजना विटगेंश्टाईन पर प्रशस्ति-पत्र लिखने की नहीं, नाटक लिखने की है, जिसमें विट का नकारात्मक पहलू भी सामने आना ही आना चाहिए। मैं डाक्टर ह्यूबनर से ऐसे व्यक्ति से मिलाने का आग्रह करता हूँ, जो विट से नाराज़ हो। दो-तीन बार कहने पर वे राजी हो जाते हैं और दो दिन बाद एक शाम हम बरसते पानी में ओटरथाल गाँव में हरमीने पिरिबाऊर से मिलने जाते हैं। उसी दिन मैं ह्यूबनर और उनकी पत्नी को अपने होटल में रात के खाने पर आमन्त्रित कर चुका हूँ।

८६ साल की हरमीने घर में अकेली हैं। उनके पति घर का कुछ सामान (शायद अपने लिये शराब) लेकर कुछ देर बाद आते हैं। ह्यूबनर मेरा परिचय देते हैं। विटगेंश्टाईन के बारे में उनका शुरूआती रूख टालने वाला रहता है। मैं पूछता हूँ, आपके साथ उनका व्यवहार कैसा था? वे 'जैसा सबके साथ था वैसा ही।' कहती हैं। मैं पूछता हूँ, 'क्या वे बच्चों को पीटते थे।' वे 'हाँ' कहती हैं। मैं पूछता हूँ, 'आपको भी पीटा'? वे 'हाँ' में जवाब देती हैं। मैं पूछता हूँ 'कितना?' वे कुछ नाराज़ होती हैं कि 'कितना क्या? बहुत।'

'चाँटे मारते थे?' मैं उनकी नाराज़गी बढ़ाने के लिये कहता हूँ। ह्यूबनर कुछ परेशान होकर मेरी ओर देखते हैं। मैं उनसे 'प्लीज, मुझे पूछने दीजिये और जैसे का वैसा अँग्रेजी में अनुवाद कीजिए।' कहता हूँ। हरमीने उबल पड़ती हैं - 'बाल खींचता था। एक बार मेरा कान इतनी जोर से मरोड़ा कि उसमें से खून निकल आया। एक लड़के को इतना मारा कि वह बेहोश हो गया।' ह्यूबनर कहते हैं, 'वह बीमार था और विटगेंश्टाईन के मारने से नहीं, अपनी बीमारी से बेहोश हुआ था और आगे चलकर कोर्ट ने भी यह बात मान ली थी। फिर इसी बीमारी से वह कुछ दिन बाद मर भी गया था।' वे कहती हैं, 'मेरे पिता ने ही इसकी पुलिस में शिकायत की थी।' मैं पूछता हूँ, 'आपका कान क्यों मरोड़ा था?' वे कहती हैं, 'मुझसे गणित का वर्गमूल निकालने का सवाल नहीं बन रहा था।' फिर गर्व से कहती हैं, 'इसके बाद मैंने वर्गमूल निकालना अच्छी तरह से सीखा और कठिन से कठिन वर्गमूल अब इस उम्र में भी निकाल सकती हूँ। चलो पूछो।' मैं कहता हूँ, 'बहुत अच्छे।' वे ज़िद करती हैं कि वर्गमूल पूछो ही। तब ह्यूबनर मेरी नोटबुक के पन्ने पर चार अंकों वाली एक संख्या लिख देते हैं। वे जल्द ही उसका उत्तर निकाल देती हैं, जो सही है। मैं पूछता हूँ, 'उनके मारने से ही आप इतना अच्छा गणित सीखीं, फिर भी उनसे नाराज़?' वे कहती हैं, 'क्यों न होऊँ नाराज़?' मैं कहता हूँ, 'चलो ठीक है। पर इतने साल बाद भी, जब कि वे नहीं रहे हैं, आप क्यों नाराज़ हैं?' वे कहती हैं, 'अब मुझे उससे कोई मतलब नहीं।' मैं पूछता हूँ, 'केम्ब्रिज से वे आपके गाँव में लोगों से माफ़ी माँगने आये थे, क्या आपसे नहीं मिले?' वे कहती हैं, 'आया था मेरे पास भी, पर मैं बिना बोले सके पास से चली गयी।' इस दौरान उनके पति भी आकर बैठते हैं, पर बीच में कुछ नहीं बोलते। उनके चेहरे से भी कोई प्रतिक्रिया नहीं झलकती।

लौटते हुए ह्यूबनर अपनी पत्नी अन्ना मारिआ को लेने बेकरी पर रूकते हैं। अन्ना मारिआ का लड़का, बहू तथा नाती आकर मेरा स्वागत करते हैं, जो मुझे भाता है। मैं कहता हूँ कि आपकी बेकरी की पेस्ट्री मैं डॉ. ह्यूबनर के यहाँ खा चुका हूँ और वो बहुत स्वादिष्ट थी। वे खुश होते हैं और मुझे बेकरी की मशीनें दिखलाते हैं, जो अत्यानुधिक और स्वचालित हैं। गाँव में इतनी बड़ी बेकरी देखकर मैं पूछता हूँ कि क्या आप इसमें बनी वस्तुएँ वियेना भी भेजते हैं? उनका जवाब होता है कि सब माल आसपास के गाँवों में ही खप जाता है।

रात को अन्ना मारिआ के साथ ह्यूबनर मेरे होटल में खाने पर हैं। बीच-बीच में ह्यूबनर अन्ना मारिआ को छेड़ते हैं, उकसाते हैं, अपना प्रेम प्रदर्शित करते हैं। अन्ना मारिआ का शर्माना मुझे बहुत भाता है।

मुझे प्रोफेसर रूडोल्फ हालर से मिलने किर्शबर्ग से ग्राज जाना है। उर्सुला मुझे अपनी कार में दूर के स्टेशन पर छोड़ती हैं। सुहावनी घाटियों पर जाना आनन्दित करता है। उर्सुला कहती हैं कि सर्दियों में बर्फ छा जाती है और तापक्रम मायनस तीस तक पहुँचता है और जब कभी मुझे इस सड़क से गुज़रना पड़ता है, तो नानी याद आ जाती है।

रेल का सफ़र और भी सुहावना है। हम पहाड़ों पर चढ़ रहे हैं। दूर पर मुझे आल्प्स श्रेणियों की बर्फ तक दिखलायी देती है।

ग्राज एक बेहतरीन शहर है। तराशे, छोटे आकार के करीने से लगे शेल-खण्डों से बने पथ। आप एक सड़क से दूसरी पर मेहराबों से बने दरवाजों में से जाते हैं और लगता है कि किसी बड़े भवन के चौक में से गुजर रहे हैं। शहर में ट्रामें— जिन्हें स्ट्रीटकार कहा जाता है— बसें, टैक्सियाँ, कारें सब हैं। पर यह बना पैदल चलनेवालों के लिये ही है। पहली जगत-जंग के पहले यह संयुक्त ऑस्ट्रो-इंगेरिअन साम्राज्य की राजधानी हुआ करता था। प्रोफेसर डालर के निर्देशानुसार मैं स्टेशन से ट्राम में बैठकर एक जगह उतरता हूँ और वहाँ से अपना पहियों वाला सूटकेस ढकेलता पैदल उन्होंने ही तय किये होटल जाता हूँ। मेरा कमरा तीसरी मंजिल पर है।

सूटकेस लेकर स्प्रिंग के आकार की (स्पायरल) सीढ़ियाँ चढ़ना मुश्किल है। होटल के बेरे को बुलाता हूँ। कमरा अच्छा है। दोपहर के ठीक दो बजे रिसेप्शन से हालर का फोन आता है। वायदे के मुताबिक वे समय पर आये हैं। मैं नीचे जाता हूँ और उनकी कार में हम निकलते हैं। रास्ते में मैं उनसे स्पायरल सीढ़ियों की बात करता हूँ। वे कहते हैं कि इस शहर की यह खासियत है और चूँकि आपने बात उठाई है इसलिये मैं आपको डबल-स्पायरल सीढ़ियाँ दिखलाते हुए आगे चलूँगा। एक बड़े भवन के पास वे कार पार्क करते हैं। भवन के दरवाजे से ही डबल-स्पायरल सीढ़ियाँ दिख जाती हैं— एक क्लॉक-वाइज और दूसरी एण्टी-क्लॉक। भवन पत्थर से बना है। प्रोफेसर हालर बतलाते हैं कि यह हेब्सबर्ग साम्राज्य के एक सम्राट के कई निवासों में से एक हुआ करता था। मैं इन सीढ़ियों पर हालर की तस्वीरें लेता हूँ और उनसे अपनी तस्वीर खींचने का भी कहता हूँ।

वहाँ से चलकर हम एक कैफे में बैठते हैं। हालर के पूछने पर मैं सफेद वाइन लेने का कहता हूँ। वे अपने लिये कॉफी मँगाते हैं और मेरे पूछने पर बतलाते हैं, कि उन्हें कार चलानी है और इसलिए कोई भी शराब नहीं पी सकते।

मैं उन्हें विटगेंश्टाईन पर अपने प्रस्तावित नाटक *'पढ़ो फ़ारसी, बेचो तेल'* की रूपरेखा बतलाता हूँ, कि इसमें मैं न सिर्फ़ उनकी जीवनी और दर्शन, बल्कि उनकी मानसिकता भी लाना चाहता हूँ, कि दर्शन की उनकी स्थापनाएँ मैं गीतों में देना चाहता हूँ। वे मेरी बातों से प्रभावित लगते हैं और दर्शन को गीतों में देने की बात उन्हें बहुत भाती है, कि जो दर्शक न समझे, वे गीत-संगीत का आनन्द तो ले ही सकते हैं।

वे विटगेंश्टाईन की *'फॉर्म ऑफ लाइफ'* की स्थापना पर लिखी और अँग्रेजी में अनुवादित अपनी एक पुरानी किताब का ज़िक्र करते हैं और बतलाते हैं कि वह आउट ऑफ प्रिण्ट है और उनके पास यदि अतिरिक्त प्रति हुई तो वे कल उनके दफ्तर से मुझे दे देंगे, वर्ना उसकी फोटोप्रति बनवाकर वियेना में मेरे पास डाक से भेज देंगे। वे ओस्लो के विटगेंश्टाईन आर्काइव्ज़ द्वारा उनके पास भेजी गयी विट की कुछ कविताओं की प्रतियाँ भी मुझे देंगे। उनके अनुसार यद्यपि कविताएँ बहुत अच्छी नहीं हैं, पर विटगेंश्टाईन ने लिखीं हैं, इसलिये मेरे लिये महत्वपूर्ण रहेंगी। मैं अगले दिन विश्वविद्यालय में उनके पास कितने बजे आऊँ, यह



पूछता हूँ। वे बतलाते हैं कि यूनिवर्सिटी से रिटायर होने के बाद वे वहाँ एमेरिटस प्रोफेसर हैं और इसलिए कभी भी आते-जाते हैं, पर मेरे लिये सुबह ग्यरह बजे पहुँच जायेंगे। वे मुझे ट्राम से विश्वविद्यालय पहुँचने का रास्ता बतलाते हैं।

मैं उन्हें *'हिन्दू'* अखबार के के.के. कट्याल ने दिल्ली में मुझसे कही इस बात की चर्चा करता हूँ कि जहाँ ग्राज के लोग अभी भी इसके विश्वविद्यालय नगर होने पर गर्व करते हैं, वहीं यूरोप के दूसरे विश्वविद्यालय नगर केम्ब्रिज के लोग इस बात से दुःखी हैं कि इसे सिर्फ़ विश्वविद्यालय के नाम से क्यों जाना जाता है। हालर इसे दिलचस्प तुलना कहते हैं और बतलाते हैं कि ग्राज में शिक्षा का वातावरण वियेना तथा आसपास के दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों से बेहतर है और इसलिए बाहर के कई छात्र यहाँ अध्ययन के लिये आते हैं। यही बात मैंने केम्ब्रिज में प्रोफेसर व्हेग से कही थी। उनका कहना था कि केम्ब्रिज का जो भी चरित्र बना है, उसकी परम्परा और इतिहास हैं। शुरू में तो विश्वविद्यालय के अधिकारियों को लोगों को दण्डित करने तक का अधिकार था।

मैं हालर से विट के फॉर्म ऑफ लाइफ, फेमिली रिजेम्बलेंस आदि दृष्टिकोणों पर चर्चा करता हूँ। उनकी बातें इनसे सम्बन्धित मेरी समझ को विस्तार देती हैं। उनकी दो अन्य बातें मेरा ध्यानाकर्षण करती हैं। एक यह कि विट संभवतः एकमात्र ऐसे दार्शनिक हैं, जिन्होंने लगातार बीस-पच्चीस साल से अधिक समय तक गम्भीर दर्शन पर काम किया, वर्ना अधिकतर दार्शनिक तो कुछ साल गम्भीर काम करने के बाद दर्शन को लोकप्रिय बनाने के चक्करों में लग जाते हैं। समझाने और सरलीकरण से तो वैसे भी विट को चिढ़ थी। दूसरी यह कि वो एक ऐसा दार्शनिक था, जो अपने पन्द्रह-बीस साल के काम को अपनी नज़रों के सामने रखता था और जब जो चाहता था, वह काम पकड़ लेता था और उस पर आगे लिखता था, या पहले लिखे में सुधार करता था। इतना अद्भुत कोलेशन शायद ही और किसी के पास हो। स्मरणीय है कि विट ने अपने जीवनकाल में सिर्फ़ एक सत्तर पृष्ठों की किताब प्रकाशित करवायी, कि अपने लिखे से वे बहुत कम संतुष्ट होते थे और हमेशा उसमें सुधार की गुंजाइश पाते थे। उनकी मृत्यु के बाद उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं तथा इनके अँग्रेजी अनुवाद भी हुए हैं। दिल्ली के प्रो. अशोक वोहरा ने उनकी तीन पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी किये हैं।

कैफे से निकलकर हालर कहते हैं कि चलिए मैं आपको इस शहर का एक अजूबा दिखलाता हूँ। हम पैदल चलकर एक चौक पर पहुँचते हैं और मैं अपने सामने एक पहाड़ देखता हूँ। शहर के बीचों-बीच पहाड़। वे बतलाते हैं, कि इस पर पहुँचने के लिये पास ही रोपवे हैं और अगर मेरे पास वक्त हो तो अगले दिन उससे ऊपर जा सकता हूँ। उनसे विदा लेकर मैं करीब दो घंटे पैदल घूमकर इस पुराने खूबसूरत शहर के दर्शन करता हूँ।

अगले दिन मैं प्रो. हालर से कार्ल फ्रांन्सेन्स विश्वविद्यालय के उनके छठवीं मंजिल के कमरे में मिलता हूँ और टिप्पणी करता हूँ कि यह उचित ही है कि दार्शनिकों को विश्वविद्यालय ने शिखर पर रखा है। वे क्षमा माँगते हैं कि उनके प्रयत्नों के बावजूद उन्हें अपनी किताब की दूसरी प्रति नहीं मिली और अब वे अपनी प्रति की फोटोकॉपी मुझे वियेना में भेज देंगे (वियेना पहुँचने के तीसरे दिन मुझे यह प्रति डाक से मिल गयी थी)। विट की कविताओं की प्रति भी उन्हें नहीं मिली और वे वायदा करते हैं मिलते ही वे इन्हें भेज देंगे। (ये कविताएँ उन्हें नहीं मिलती और ग्वालियर आकर मैं उन्हें सुझाव देता हूँ कि ओस्लो की सोसायटी के दफ्तर से वे इन्हें ग्वालियर भेजन का अनुरोध करें। उनका जवाब आता है कि उन्होंने

ओस्लो को लिख दिया है, पर वहाँ से मुझे अब तक ये कविताएँ नहीं मिली हैं)। वे विटगेंश्टाईन पर जर्मन भाषा की एक फिल्म का हवाला देते हैं और आशा करते हैं कि वियेना में साहित्य संघ की मदद से मैं इसकी एक वीडियो हासिल कर सकूँगा। (साहित्य संघ की सचिव ओल्गा पारेत्ज इसके लिये प्रयत्न भी करतीं हैं। फिल्म निर्माता के पास यह उपलब्ध है, उससे उनका सम्पर्क हो भी जाता है, पर वह वियेना के बाहर जा रहा है और लौटकर इसे देने का वायना करता है। पर मेरे वियेना से प्रस्थान करने के दिन तक वह लौटा नहीं होता है)।

हालर आस्ट्रिआ के अग्रणी दार्शनिकों में गिने जाते हैं। वैश्लेषिक दर्शन में उनकी प्रमुख दिलचस्पी है। नीदरलैण्ड से छपने वाली दर्शन की एक शोध पत्रिका के सम्पादक हैं और उन्होंने ढाई सौ से अधिक शोधपत्र लिखे हैं। दुनिया में जगह-जगह संगोष्ठियों में, व्याख्यानों के लिये जाते रहते हैं। 'वियेना सर्कल' में भी सक्रिय रहे हैं। पर उनमें अपने पाण्डित्य का गर्व बिलकुल नहीं है, जो कि वियेना में कम दर्ज़े के दार्शनिकों में मुझे देखने को मिला।

हालर विटगेंश्टाईन ने अन्य दार्शनिकों, विशेषकर कार्ल पॉपर और रसैल के साथ किये व्यवहार से नाखुश हैं। मैं उन्हें याद दिलाता हूँ कि इतना ही निर्मम व्यवहार विट खुद अपने साथ भी तो करते थे, कि वे सोच की प्रतिमूर्ति थे और इसकी गति के बीच किसी व्यक्ति का— यहाँ तक कि खुद अपना भी—पड़ना वे बर्दाश्त नहीं कर पाते थे और ऐसे व्यक्ति से साधारण शिष्टाचार की अपेक्षा करना अनुचित है। हालर का कहना था कि रसैल भी कोई कम महत्वपूर्ण वैज्ञानिक नहीं थे और कम से कम उनके साथ तो विट को आदर से पेश आना चाहिए था। मैं उन्हें याद दिलाता हूँ कि रसैल से उनके मतभेद दुनिया को देखने के दृष्टिकोण सम्बन्धी थे। दोनों ही एक-दूसरे के उत्तरवर्ती काम को महत्त्वपूर्ण नहीं मानते थे। रसैल ने तो कहा भी था कि बाद का विटगेंश्टाईन दर्शन के ठोस और गम्भीर प्रश्नों से जूझने से घबराता है और खुद को जायज ठहराने के लिये उसने एक डॉक्ट्राइन गढ़ लिया है। उधर विट ने कहा था कि रसैल के काम को दो जिल्दों में रखना चाहिए: नीली जिल्द में उनका गणित और तर्क से सम्बन्धित काम, जिसे पढ़ना दर्शन हर विद्यार्थी के लिये ज़रूरी हो, और बाकी काम लाल जिल्द में, जिस किसी को भी छूने न दिया जाय।

ग्राज से वियेना, मैं रात ग्यारह बजे पहुँचता हूँ। डिब्बे में एक केरल का युवक मिलता है, जो वियेना के एक हस्पताल में पुरूष नर्स का काम करता है। वह बतलाता है कि वियेना के उस हस्पताल में जहाँ वह काम कर रहा है, लगभग पचास से ऊपर हिंदुस्तानी नर्सें हैं, जिनमें से अधिकतर केरल की हैं। उस की सलाह पर मैं वियेना में एक स्टेशन पहले उतरता हूँ। स्टेशन के पत्र-पत्रिका बेचने वाले एक हिंदुस्तानी से अपने निवास स्थल शॉपनहॉवर स्ट्रासे का पता पूछता हूँ। (यह एक सुखद इत्तफाक है कि मुझे वियेना में रूकने की जगह भी एक दार्शनिक के नाम पर पड़े इलाके में ही मिली)। वह टेलीफोन से मेरी घर मालकिन श्रीमती स्टांगल से बात करता है। वे बतलाती हैं कि मैं एक स्टेशन पहले उतर गया हूँ और फिर से रेल में बैठकर अगले स्टेशन पर उतरूँ और वहाँ से फोन करूँ। अगले स्टेशन पर बिना फोन किये मैं अपने कमरे के लिये चल देता हूँ। रास्ता भूलता हूँ और सड़क पर तैनात पुलिस की मदद से मकान पर पहुँचकर घंटी बजाता हूँ। बाहर जाने के कपड़े पहने श्रीमती स्टांगल दरवाजा खोलती हैं और बतलाती हैं कि स्टेशन के पास इस समय नशीली दवा सेवन करने वालों का जमघट रहता है और मेरे आने में देर होने से वे घबरा गयी थी और खुद मुझे ढूँढने निकलने वाली थीं। लंदन से आकर उनके घर



के कमरे में रुकने के वक्त श्रीमती स्टांगल ने मुझसे पूछा था कि क्या इंग्लैण्ड में मेरा कोई रिश्तेदार रहता है। मेरा जवाब था कि पूरी दुनिया में मेरे रिश्तेदार फैले हुए हैं और उनमें एक आप भी हैं। उन्होंने परेशानी से मेरी ओर देखा, तो मेरा जवाब था कि आप मेरी बहन हैं। इससे श्रीमती स्टांगल, उनके पति और बेटी मुझसे बहुत खुल गये थे और इस वक्त की उनकी चिन्ता एक भाई के लिये होने वाली चिन्ता थी।

पुणे के डा० अशोक केलकर ने दिये फोन पर मैं स्वर्गीय नाथ पै की विधवा किस्टीने पै से सम्पर्क करता हूँ। विश्वविद्यालय के इण्डोलोजी के साथ अन्य कुछ विभागों के नये भवन में स्थानान्तरित होने के समारोह में वे मुझे बुलाती हैं। मैं उनके अलावा वियेना में बसे हिन्दुस्तानी सौरभ सनातनी से, अपने राजदूत योगेश तिवारी से, श्रीमती एलीज़ाबेथ अल-हिमरानी से भी मिलता हूँ। शाम को मैं, श्रीमती पै, श्रीमती अल-हिमरानी और सौरभ साथ-साथ खाना खाते हैं। मुझे यह बात मज़ेदार लगती है कि श्रीमती पै मुझे अपना मेहमान कहकर मेरे खाने का बिल अदा करती है, बाकी दो अपना-अपना।

वियेना में रहते हुए इन व्यक्तियों की मुझे बहुत मदद होती रहती है। तिवारीजी विटगेंश्टाईन के बारे में अपनी जानकारी बढ़ाना चाहते हैं और इसलिए मुझे दूतावास में आने को आमंत्रित करते हैं। मैं उन्हें विटगेंश्टाईन और उसके काम के बारे में बतलाता हूँ और बातों-बातों में विट का यह कथन उद्धत्त करता हूँ कि रंगों की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती और वे केवल दिखलाकर ही समझाये जा सकते हैं। तिवारी जी विज्ञान के विद्यार्थी रहे हैं, सो कहते हैं कि रंगों को वेवलेंथ के जरिये परिभाषित किया जा सकता है। मैं इसे ठीक नहीं मानता और उनसे कहता हूँ कि मैं भी साइंस पढ़ा हूँ और पढ़ाता भी हूँ। हम जानते हैं कि एक ही रंग में कई-कई वेवलेंथ्स होती हैं। इस तरह से एक रंग की कितनी सारी परिभाषाएँ हो जायेंगी और फिर इन वेवलेंथ लाइनों के पीछे रंग की पृष्ठभूमि होती है, उसकी क्या परिभाषा होगी? वे मुझसे सहमत होते हैं। इस बातचीत का सीधा-सीधा असर ये होता है कि मैं नाटक के पहले दृश्य में रंगों की परिभाषा की बात जोड़ने का तय करता हूँ, क्योंकि इसमें एक दृश्यात्मकता भी है।

२६ अक्टूबर - आस्ट्रिआ का राष्ट्रीय दिवस। दूसरी जगत-जंग के चार मित्र देशों ने जंग के बाद इलाके बाँटते हुए आस्ट्रिआ पर अपना कब्जा बरकरार रखा था और २६ अक्टूबर, १९५५ को ओक्यूपेशन आर्मी का आखिरी सैनिक देश से बाहर हुआ था। तब से इसे राष्ट्रीय दिवस घोषित किया गया है। एलिजाबेथ अल-हिमरानी तथा किस्टाइल पै (उनके दोस्त उन्हें इसी नाम से पुकारते हैं) मुझे समारोह देखने के लिये आमंत्रित करती हैं। इसके बाद संग्रहालय देखने का प्रस्ताव है, जिनमें उस दिन मुफ्त प्रवेश मिलता है। श्रीमती स्टांगल अपने परिवार के साथ दिन भर एक से दूसरे संग्रहालयों में जायेंगी। वे मुझे अपनी कार में ओपेरा हाऊस तक छोड़ती हैं, जहाँ अल-हिमरानी मुझे मिलने वाली हैं। पै बाद में मिलेगी। हम दोनों समारोह स्थल पर जाते हैं। काफी भीड़ है और मौसम भी अच्छा है। एक ओर बने साधारण से मंच से चांसलर कुछ कह रहे हैं। हम इधर-उधर घूमते हैं। अल-हिमरानी औपचारिक वेशभूषा में जा रहे एक सैनिक को मुझे दिखलाती हैं, जिसके तुर्रे में पंख तक लगा है। वे उसे रोकती हैं और मुझसे उसकी तस्वीर उतारने को कहती हैं। चौक के आसपास नाश बाजार के कई हिन्दुस्तानी होटलों के मालिकों ने खाने-पीने की दुकानें लगायी हैं। हम एक सरदारजी की दुकान पर समोसे खाते हैं। किस्टाइल के मिलने पर हम टोनों-टोटकों (शमन्स) के अनुष्ठान आयोजित किये गये नृतत्व के राष्ट्रीय संग्रहालय में जाते हैं। ऊँचे पदों से बने गलियारों से पैदा किये अंधकार से चलते हुए मन के अन्दर असर पैदा करने की किसी विधि के बीच से हम गुजरते हैं। धीमा संगीत है, शांति है। न मेरे और न ही उन दोनों के मनों पर इसका कोई असर

होता है। मेरे अनुरोध पर माया संस्कृति का कक्ष देखने के बाद हम एक ऐसी जगह पहुँचते हैं, जहाँ संगीत है। अद्‌भुत संगीत, कंठ और नाभि से निकाली आवाजों के अद्‌भुत स्वर। अद्‌भुत वाद्य। मुझे बताया जाता है कि साइबेरियाई लोक संगीत है। संगीतज्ञ लोगों से घिरे हैं। वे दोनों महिलाएँ मुझे आगे बढ़ने को कहती हैं। मैं उनसे कहता हूँ कि मैं तो संगीत सुनूँगा और वे लोग संग्रहालय देखें और मुझे बतला दें कि कहाँ मिलना है। वे कक्ष बतलाकर चल देती हैं। और मैं आगे जाकर संगीतज्ञों के सामने फर्श पर बैठ जाता हूँ। पर थोड़ी देर बाद ही कार्यक्रम समाप्त होता है। मुझे निराशा होती है। जर्मन में कुछ कहा जाता है, जिसे मैं नहीं समझ पाता। संगीत-मंडली के एक युवक से पूछता हूँ, कि आगे आप लोग किस संग्रहालय में प्रस्तुति देंगे। वह बतलाता है कि लंच के बाद तीन बजे इसी जगह फिर प्रस्तुत करेंगे। एक बजा है। मैं अपने मित्रों के पास जाता हूँ।

लंच हम सरदारजी के यहाँ ही करते हैं। धूप में खाते हुए अच्छा लग रहा है। मेरे सामने अपने पिता के साथ बैठी एक बच्ची भुने हुए छोटे फल छीलकर खा रही है। उसका पिता इधर-उधर गिर रहे छिलकों को एकत्र कर रहा है। मैं मुस्कुराकर बच्ची के सामने हाथ बढ़ाता हूँ। वह अपना हाथ खींचती है। मैं और उसका पिता एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कुराते हैं। बच्ची का टुकड़ा खत्म होता है और अपनी जेब से एक टुकड़ा निकालकर वह मेरी ओर बढ़ा देती है। मैं उसे धन्यवाद देते हुए हँसता हूँ। वह आग्रह करती हैं। मैं नहीं लेता। उसका पिता आग्रह करता है। मैं उससे कहता हूँ कि मैं सिर्फ खेल कर रहा था।

मुझे तीन बजे संगीत सुनना है और मेरी मित्रों को नहीं। वे कहीं और जायेंगी। मुझे सामने के राष्ट्रीय संग्रहालय में या इधर-उधर घूमते हुए वक्त गुजारने का कहकर दोनों महिलाएँ मुझसे विदा लेती हैं। पहियों पर टिके, दरवाज़ा लगे खोकों के पेशाबघर हैं, जिनके आगे लोग लाइनें बनाकर खड़े हैं। भीड़ की प्राकृतिक जरूरत को समझकर प्रशासन का इस तरह से इंतजाम करना ज़िम्मेदारी की निशानी है। हम अपने यहाँ तो इस तरह की बात सोच भी नहीं सकते।

ठीक तीन बजे संगीत का कार्यक्रम शुरू होता है। मैं पहले से ही आगे जमीन पर बैठा हूँ। पाँच से दस मिनिट तक की रचनाएँ हैं। गाने वाले एक वृद्‌ध पुरुष और एक वृद्‌ध महिला है। कभी पारम्परिक तो कभी आधुनिक पश्चिमी वाद्यों की संगत है। माउथ हार्पर की पहचान मुझे बाद में एक मित्र ने करायी। महिला अपने गले से लोगों को मंत्रमुग्ध कर रही है। उम्र में बूढ़ी पर बहुत बूढ़ी नहीं। अचानक अपना विग उतारकर वह पीछे की ओर फेंकती है और अपनी बढ़ी हुई उम्र उजागर करती है। लोगों को मज़ा आता है और वे तालियाँ बजाते हैं। वे बतलाती हैं कि उनके गाये संगीत में तिब्बत का अनुष्ठानिक संगीत भी है और उस तरह का एक गायन प्रस्तुत करती हैं। इसमें मंत्रोच्चार का आभास होता है और *'भोज'*, *'भूमि'* जैसे शब्द भी हैं। वे बतलाती हैं कि वे तिब्बत कभी नहीं गयी और यह संगीत भी उन्होंने अपनी परम्परा से ही सीखा है। तिब्बत का संगीत दक्षिण साइबेरिया में कैसे पहुँचा, इस पर वे आश्चर्य भी व्यक्त करती हैं।

कार्यक्रम पूरा होने पर पश्चिमी वाद्य सिंथेसाइजर बजाने वाले युवक से मैं तथा एक महिला पूछते हैं कि यहाँ बजाया संगीत कैसेट या सीडी पर उपलब्ध है क्या? पहले वह कहता है कि हम ज्यादा से ज्यादा लोगों को अपनी बैठकों में आकर्षित करना चाहते हैं और इसलिए कैसेट आदि नहीं निकालते। पर कुछ देर बाद वह एक कैसेट निकालता है। मुझे यही लगता है कि वह बिकाऊ नहीं है, पर महिला उसकी कीमत पूछती है। युवक एक सौ चालीस शिलिंग कहता है। महिला के चुप रहने पर मैं कहता हूँ कि इस कीमत



में खरीदने को तैयार हूँ। वह महिला आगे बढ़कर कैसेट छीन लेती है, कि मैं पहले ही खरीद चुकी हूँ और अपने दोस्त से पैसे लेने को रुकी हूँ। सिर्फ एक कैसेट है। मैं निराश होता हूँ।

मैं गौर करता हूँ कि संगीत को लेकर विटगेंश्टाईन रूढ़िवादी थे। हायड्न, मोत्सार्ट, बीथोवॅन, शूबर्ट और ब्राम्ह के बाद के संगीतज्ञों को वे अधूरा मानते थे। लोकसंगीत में उनकी रूचि होने का या उन्होंने इसे सुनने का कहीं उल्लेख नहीं आता। मुझे लगता है कि अपनी शाही पृष्ठभूमि के कारण इस क्षेत्र के आसपास से वे गुजरे ही नहीं, जबकि जनजीवन की कठिन सच्चाइयों से वे न सिर्फ वाक़िफ थे, बल्कि वसीयत से मिली अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर वे उस तरह के कठिन जीवन में शामिल भी हो गये थे। कला में अभिजात्य और रहन-सहन में मामूलीपन— विटगेंश्टाईन के साथ ऐसा क्यों था?

सुबह फोन कर मैं अल-हिमरानी से अनुरोध करता हूँ कि कल वाला संगीत मुझे कहीं से भी उपलब्ध करा दें। वे बतलाती हैं कि वह दक्षिण साइबेरिआ के टोवा क्षेत्र का संगीत है और महिला गायिका साइन्को हैं और उनका ग्रुप अक्सर वियेना के रेडियो पर प्रस्तुति देता है और उसका रिकॉर्ड किया संगीत मिल जायेगा। लंदन जाने के एक दिन पहले वे मुझे एक दुकान से सीडी खरीदवा भी देती हैं।

वियेना में विटगेंश्टाईन का पुश्तैनी प्रासाद दूसरी जगत-जंग में ढह गया था, सो उसे देखने जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता। किर्शबर्ग पहाड़ के स्कूलों में लगभग छह साल मास्टरी करने और वहाँ एक कोर्ट केस में उलझने के बाद वे निराशा में डूब गये थे और खुद को सुधारने के लिये उन्होंने एक कब्रिस्तान में माली का काम किया था। उनकी बहन ग्रेटल ने उनकी मानसिक स्थिति को बदलने के लिहाज से अपने लिये एक भवन बनाने का काम उन्हें सौंप दिया और बाकायदा पॉल एन्जलमॅन एण्ड लुडविग विटगेंश्टाईन, आर्चीटेक्ट्स नाम से कार्ड और पैड छपवाकर वे आर्किटेक्ट बन गये थे। तब की अलंकारिक वास्तुकला के विरूद्‌ध जाकर उन्होंने अत्यंत सरल और सादा वास्तुकला को सामने लोने के उद्धेश्य से यह भवन बनाया। पर इसमें गणितीय हिसाब इतना अधिक था कि कारीगरों ने एक कमरे की भीतें तीन सेण्टीमीटर कम बनाने पर, उन्हेंने इसे तुड़वाकर फिर से बनवाया। वियेना में 'विटगेंश्टाईन हाऊस' के नाम से मशहूर इस भवन को देखने मैं पहले सौरभ सनातनी के साथ जाता हूँ। केन्द्र से दूर होने के बावजूद कई लोग इसके बारे में जानते हैं। इसमें कुछ सालों से बुल्गेरियाई दूतावास का सांस्कृतिक केन्द्र है। दुर्भाग्य से उस दिन वह बंद था और दूसरे दिन में अकेला उसे देखने जाता हूँ। उसे दिखलाने की व्यवस्था ठीक नहीं है, बावजूद इसके कि देखने के लिये टिकिट है। जब तक कोई कार्यक्रम न हो कर्मचारी रहते ही नहीं हैं। वे चाहते भी नहीं कि दर्शक आयें। ऊपर की मंज़िल देखने ही नहीं देते। बहरहाल भवन सचमुच सादे शिल्प का उदाहरण है। एकदम सादा। आयताकार ज्यामिति। कहीं पर भी नक्काशी का नामोनिशान नहीं। विट का बनाया लड़की का *'बस्ट'* सामने ही रखा हुआ है। दो कर्मचारियों की इच्छा के विरूद्‌ध में काफी देर तक उसमें रहता हूँ।

लिखने का काम आगे बढ़ता है और वापस लंदन जाने के दो-तीन दिन पहले तक आधी से अधिक पाण्डुलिपि बन गयी हैं। उसे पढ़ता हूँ, पर सिर्फ पहले दृश्य से संतुष्ट होता हूँ। बाकी के दृश्यों को पढ़कर लगता है कि इसमें थियेटर उतना नहीं जितना होना चाहिए। बात बनी नहीं— का भाव छाया रहता है और निराशा घेरे रहती। इतने दिनों का प्रयास, इतने प्रयत्न असफल हुए लगते हैं। यही सवाल उठते रहते हैं कि इसमें मेरा क्या है? कि मेरा थियेटर कहाँ है? असफलता का अहसास बेचैनी पैदा करता है और रात को सो नहीं पाता। पक्के मन से पाण्डुलिपि पर फिर से विचार करने का तय करता हूँ, पर कहीं कोई सुराग

हाथ नहीं लगता। लंदन की उड़ान पकड़ने के एक दिन पहले वियेना के नये बने दोस्तों से फोन पर या मिलकर विदा लेता हूँ। उड़ान सुबह साढ़े ग्यारह बजे की है। श्रीमती स्टांगल के पेईंग गेस्ट आवास के दूसरे कमरे में साहित्य संघ का एक फ्रांसिसी कवि आलोचक-अनुवादक रुका होता है। उसकी पेरिस की उड़ान बारह बजे की है। श्रीमती स्टांगल ने हमारे पैसे बचाने के लिये हम दोनों के लिये एक ही टैक्सी अनुबंधित की है। वह एक स्कूल में फ्रांसिसी साहित्य पढ़ाता है। टैक्सी में मैं उससे पूछता हूँ उसे कॉलेज या विश्वविद्यालय में पढ़ाने का मौका मिलने की सम्भावना कितनी है। उसका जवाब होता है कि काश अभी जो विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे हैं, उनमें से कुछ मर जायें, तो उनकी जगह खाली हो। मैं उसकी खुदगर्जी और नफरत से चौकता हूँ। बाद में वह अपने कथन के लिये दुःख भी व्यक्त करता है, पर गोली निकल चुकी है। क्या पूरी दुनिया में कैरियर और अपने अहम को लेकर एक जैसी मानसिकता नहीं फैली हुई है? कैरियर का ख्याल पूरी तरह से छोड़कर और अपने अहम को एक ओर रखकर दूसरी जगत-जंग में एक हस्पताल में हम्माली करने वाले विटगेंश्टाईन के लिये मेरी श्रद्धा और बढ़ जाती है।

उड़ान में बैठे-बैठे लगता है कि बिना कुछ हासिल किये ही वापस जा रहा हूँ। खाना दिया जा रहा है। मैं उड़नपरी से एक रेड वाइन देने को कहता हूँ। उसे पीता हूँ। एक और मँगाता हूँ और अचानक पाण्डुलिपि में थियेटर न उभर पाने की वजह मेरी समझ में आती है। एक और वाइन मँगाकर उस पर और गहराई से सोचता हूँ और लो, मेरा थियेटर मेरी पकड़ में आ जाता है और लगता है कि बात बन रही है। खाने की ट्रे बिना पैकेट खोले ही लौटा देता हूँ और अपना लेपटॉप निकालकर फटाफट समझ में आयी बातों को विस्तार देते हुए छोटे-छोटे वाक्यों में टाइप करता हूँ। सीट बाँधने की घोषणा होते-होते मेरा काम पूरा हो गया है और संतोष और खुशी मेरे अन्दर बाहर कुलाँचे लेते हैं, कि हीथ्रो से लंदन जाने के लिये साढ़े तीन पौण्ड का टिकिट खरीद चुकने के बावजूद प्लेटफॉर्म पर नॉन-स्टॉप हीथ्रो एक्सप्रेस के आते ही, बिना इस बात की परवाह किये कि खरीदा टिकिट बेकार जायेगा और ऊपर से दस पौण्ड और देना पड़ेंगे गाड़ी में चढ़ जाता हूँ।



ध्रुव शुक्ल

# महात्मा गांधी : चरित स्वयं ही काव्य

भारत के हृदय प्रदेश में बसे यशस्वी कवि श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' की नोटबुक में पण्डित नेहरू ने, १९५४ में यह वाक्य लिख दिया था- *'अपने जीवन को कविता बनाना चाहिये'।*

१९८९ में जब पूरे देश में नेहरू जन्मशती के आयोजन हुए; तभी इस अवसर पर भोपाल में कलाओं के घर भारत-भवन में विश्व-कविता समारोह आयोजित हुआ। पण्डित नेहरू की स्मृति को समर्पित इस समारोह के एक पोस्टर पर यह वाक्य भी प्रकाशित हुआ- *'अपने जीवन को कविता बनाना चाहिए'।*

पण्डित नेहरू कवि हो सकते थे, पर हुए नहीं। वे अपने जीवन को कविता बना सके या नहीं, इस पर अनेक मत हो सकते हैं; पर यह निर्विवाद है कि उन्होंने जीवन और कविता को आत्मीयता से देखा और पढ़ा। उनकी *'भारत की खोज'* भारत के जीवन में रची-बसी कविता की ही खोज मालूम पड़ती है। महात्मा गांधी के निकटवर्ती और लाड़ले पण्डित नेहरू यह निश्चय ही जान सके होंगे कि कविता किस तरह जीवन में चरितार्थ होती है। पर उनके द्वारा गढ़े गये नये तीर्थों में कविता को जगह कहाँ मिली, वह तो ग्रामवासिनी भारतमाता की कुटिया से भी दूर होती गयी।

अगर हम इस अहसास से भर उठे हैं कि *'बापू भारत की कविता'* हैं तो बापू के समकालीन और कविता के आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से पूछ लिया जाये कि कविता क्या है। इस ढलती हुयी बीसवीं सदी के चौथे दशक में स्वाधीनता संग्राम जब चरम उत्कर्ष की ओर अग्रसर था, उनका प्रसिद्ध निबन्ध *'कविता क्या है'* प्रकाशित हुआ। आचार्य शुक्ल कहते हैं—

*'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं। इस साधना को हम भावयोग कहते हैं और कर्मयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष मानते हैं।'*

❑

*'कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्चभूमि पर ले जाती है। भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुँचे हुए मनुष्य का जगत के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्व-हृदय हो जाता है। उसकी अश्रुधारा में जगत की अश्रुधारा का, उसके हास-विलास में जगत के आनन्द-नृत्य का,*

*उसके गर्जन-तर्जन में जगत के गर्जन-तर्जन का आभास मिलता है।'*

हृदय की मुक्ति के लिये किया गया शाब्दविधान हर युग में नये कर्म-विधान की माँग करता है। बापू ज्ञानयोगी और कर्मयोगी तो थे ही; वे भावयोगी भी थे। इस मणिकाञ्चन संयोग में उनका ज्ञान तपा हुआ स्वर्ण है। उनका स्वयं प्रकाशित कर्म ही मणि है और उससे बिखरने वाली धुति ही भाव है। बापू कहते थे *'मैं उस प्रकाश के अनुरूप आचरण करता हूँ जो मुझे प्राप्त होता है। यह प्रकाश कभी मन्द और कभी अधिक प्रखर होता है। यह मेरी आन्तरिक बुद्धि और साधना पर निर्भर है।'* बापू के जीवन पर महाकवि तुलसीदास द्वारा रचित कागभुसुण्डि और गरुड़ का संवाद छाया हुआ है। वे कविता से निकलते अनुभवगम्य मार्ग पर परमेश्वर की अँगुली पकड़कर चलते हैं। जहाँ किसी वाद का बन्धन नहीं, बेहद का मैदान फैला है। इस मार्ग पर विषय-बयार से बार-बार बुझ जाने वाले दिये भी नहीं, स्वयं प्रकाशित मणि ही रौशन है; जिसकी रौशनी में भूला हुआ मार्ग फिर प्रतीत होने लगता है, दूर टिमटिमाता हुआ अपने गाँव का चिराग दीखता है।

हम जीते-जी तो *'रामचरित मानस'* पढ़ते ही हैं; जब मरने लगते हैं तो फिर उसे ही सुनने की इच्छा करते हैं। मृत्यु की गहराई में उतरते हुए उसे साथ ले जाना चाहते हैं। कामनाओं से भरे जीवन में ऐसा काव्यात्मक सहारा कोई दूसरा नहीं। वह परिवार की कथा है इसीलिए घर-घर में पूजी जाती है; मानस रोगों का उपचार करती यह कविता-औषधि बन जाती है। कागभुसुण्डि कहते है- शरीर ही मोक्ष की सीढ़ी है। दरिद्रता के समान दुःख नहीं है। सन्तों के मिलन में ही सुख है। अहिंसा ही परमधर्म है। परनिन्दा ही पाप है और सब रोगों की जड़ हमारा मोह ही है।

कलिकाल के पुरुषोत्तम के लिये *'धर्म की रसात्मक अनुभूति'* और गुणगान ही तो एक-मात्र सहारा है। महात्मा गांधी अकेले लोकनायक हैं जिनका काम एकाध तराने से नहीं चला। उन्हें तो बहुत सारी कविता की ज़रूरत पड़ी- कबीर, तुलसी, सूर, मीरा, नानक, रैदास, नरसिंह मेहता, तुकाराम, नज़ीर, बंकिम और रवीन्द्र; सबकी कविताएँ उनकी प्रातः —सायं प्रार्थनाओं में शामिल हो गयीं। बापू ने हमारे लिये ऐसे लोकप्रचलित गुणगान चुने जो सबकी साँसों की लय पर हर पल साथ चल सके।

हम एक अकथ और अनन्त कथा के ही पात्र हैं। हम हर बार अपनी कथा से दूर छिटक कर उसे ही कहने की कोशिश करते हैं। सब उसे बहुविध कहते हैं। हमारी जड़ें जमीन में नहीं; गगन में हैं। उल्टे पेड़ की तरह लटके हुए इस संसार में पत्तियों सरीखे हैं। हमारे अलग-अलग तरह के स्वाद उसी वृक्ष के फलों को चखते हैं। यह स्वादों की भिन्नता ही शायद जीवन और कविता का रूप बदलती होगी।

किसी की कविता पढ़कर यह सहज ही माना जा सकता है कि उसने जीवन का स्वाद किस तरह चखा है। इसी तरह जीवन को देखकर यह पता चल ही जाता है कि जीवन में कविता किस तरह अवतरित हुयी है। चखने का यह तरह ही कविता और जीवन का शिल्प बनती होगी। कविता और जीवन एक-दूसरे में इस तरह घुले-मिले हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। कविता कब जीवन और जीवन कब कविता बन जाये, कहना मुश्किल है।

बापू उस शाश्वत वर्तमान को भजते रहे जो कभी नहीं बीतता, हमेशा सबके साथ चलता है। जो लोग इस निरन्तर वर्त्तमान में जी नहीं पाते उन्हें ही लगता होगा कि समय बीत गया। शायद इसी



भ्रम के कारण उन्हें भविष्य भी आता हुआ दिखायी देता होगा, जिसका बस एक ही तराना है-

*'हम होंगे कामयाब एक दिन*
*होगी शान्ति चारों ओर एक दिन*
*हम चलेंगे साथ-साथ*
*ले के हाथों में हाथ एक दिन'*

इस आने वाले किसी एक दिन की चाहत उस पल में रहने ही नहीं देती जो अभी ही कर्मकुशल और बेहद शान्त है। उसमें अतीत को कोसने और भविष्य को पोसने का कोई अवकाश ही नहीं। वह तो नश्वरता के बोध से भरा एक जीता-जागता पल है; जहाँ सिर्फ प्रार्थना की जा सकती है— प्रार्थना मृत्यु का स्मरण है।

आचार्यों की दृष्टि में कविता और उपासना दोनों ही भाव साधनाएँ हैं। दोनों में ही सत्य की काल्पनिक प्रतिमा गढ़ी जाती है, जिसमें निश्चय ही पूर्ण सत्य का दर्शन नहीं होता पर सत्याग्रह अवश्य होता है। बापू सत्याग्रह को अहिंसक देह का विरागी प्रयत्न ही मानते हैं, जो खुद अपने आपको ही त्यागकर संसार को भोगती है। ऐसी देह निर्भय और संचय विमुख हो जाती है, फिर उसके खालीपन में सहज ही कविता का आलोक भर जाता है और वह जगमगा उठती है। बापू अपने जीवन में इसी तरह कविता को चरितार्थ करते हैं। वे कविता नहीं लिखते; उनके चरित से ही कविता का आलोक झरता है और शब्द युगानुरूप अर्थगौरव से भर उठते हैं।

इस नये अर्थगौरव से भरी यह मूर्तिमयी—करुणामयी देह जब महाकवि निराला की कविता में अवतरित होती है तो समर को त्याग देती है; पहले अपने स्वराज्य को सिद्ध करती है:

*शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन*
*छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो रघुनन्दन*

❑

*आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर*
*तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर*

*'राम की शक्तिपूजा'—निराला*

*'भारत छोड़ो आन्दोलन'* के लगभग छह-सात वर्ष पहले महाप्राण निराला ने *'राम की शक्तिपूजा'* कविता की रचना की थी, जिसमें संयतप्राण पुरुषोत्तम की मौलिक कल्पना करके उसी से अपनी विजय का आशीर्वाद पाते है, पुरुषोत्तम नवीन कहलाते हैं। महाशक्ति और कोई नहीं; सागर तल से ऊपर उठी हुई पृथ्वी माता ही साक्षात् शक्ति हैं और सागर ही उनका वाहन है। दसों दिशाएँ उनके हाथ हैं। संसार की विराट देह में अपने आप को ऊपर उठाती उन्नत प्राणदेह निराला की इस कविता में मन और बुद्धि के दुर्गों को लाँघती हुई जीवनव्यापी सर्वनाम में समा रही है।

बीसवीं सदी मनुष्य की देह में ही सिमट गयी है। इस सदी के पहले दशक में ही बापू ने चेताया था कि प्राणों की उन्नति के बिना ज्ञान और कर्म दोनों ही अधूरे रह जायेंगे। ज्ञान और कर्म तो उस भाव यज्ञ की समिधा की तरह हैं जो अपने आपको जलाकर प्राणों को ऊपर उठाती है।

शायद आत्म साक्षात्कार की यही विधि है, जहाँ प्राण ही उन्नत होकर आत्मा बन जाते हैं।

अपने प्राणों की उन्नति को भूलकर पूँजी और प्रविधि से घिरा मनुष्य असीम में उठना भूल गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल फिर अपने उसी निबन्ध— *'कविता क्या है'*- में याद दिलाते हैं:

*'आदिरूपों और व्यापारों में वंशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा के प्रभाव से भावों के उद्‌बोधन की गहरी शक्ति संचित है। अतः इनके द्वारा जैसा रस परिपाक सम्भव है वैसा कल-कारखाने, गोदाम, स्टेशन, हवाई जहाज जैसी वस्तुओं तथा मोटर की चरखी घुमाने या एंजिन में कोयला झोंकना आदि व्यापारों द्वारा नहीं'*

बापू ने प्रविधि का विरोध इसलिए भी किया कि वह मनुष्य के दैहिक प्रयत्न का अनादर करती है और उस प्रवृत्ति को विचलित करती है जिसके बिना जीवन और कविता में रस परिपाक सम्भव ही नहीं। लगता है कि जैसे बापू का जीवन मनुष्य देह में कविता के पुनर्वास का पुरुषार्थ है। उनका सत्याग्रह उस परिवेश की रक्षा करता है जिसमें कविता सम्भव होती है और अपनायी जाती है।

हम बापू के जीवन की कविता के सामने अपनी-अपनी अधबनी कविताएँ लिये मैथिलीशरण गुप्त की वाणी को याद कर सकते है— *'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है'*— और कह सकते हैं कि बापू तुम सचमुच भारत की कविता हो।

लगातार:

(I) संस्कृति :

कृष्ण कुमार

*शिवम् की रचना*

(II) कलाएँ :

मुकुन्द लाठ

*राग का इतिहास : एक विहंगम दृष्टि*

कृष्ण कुमार

# शिवम् की रचना

सरकारी नौकरी करने वाली शिक्षित माँ और उसके तीन साल के बेटे के बीच संवाद मुझे इत्मीनान से सुनने को मिला। वे दोनों मेरे सामने की सीट पर सवार थे और हमें इसी गाड़ी में पूरी शाम, रात और सुबह गुज़ारनी थी। ऐसे अवसर कम ही मिलते हैं जब हम माँ और बच्चे का संवाद परिवार के अन्य सदस्यों की उपस्थिति को बाहर रखकर कई घंटों तक सुन सकें। ज़रूर इन सदस्यों—विशेषकर पिता—की मौजूदगी में भी माँ-बेटे का संवाद हमें समाज के सांस्कृतिक मौसम की कई रोचक जानकारियाँ दे सकता है, पर माँ और बच्चे के संवाद भी सम्पूर्ण एकान्त में एक अलग ही ढंग से खुलती है। मेरा सौभाग्य था कि यह एकान्त रेलगाड़ी ने रचा था। सफ़र में समाज का आभास हमारे गिर्द फैला रहता है, पर उसी आभास के बीचोंबीच हम अकेले बैठे रहते हैं। मित्र या रिश्तेदार हमारे साथ हो तो उन्हें मिलाकर हम एक अकेली इकाई की तरह अलग ही रहते हैं भले ही हमारी आपसी बातचीत में इर्दगिर्द खड़े-बैठे-लेटे समाज का आभास बुना रहता है। एक मध्यमवर्गीय माँ और उसके बेटे शिवम् का जो संवाद मुझे एकदम उनके सामने बैठकर सुनने को मिला, वह मेरे लिए कुछ विशेष मूल्यवान इसीलिए बना क्योंकि उसमें समाज, नमूने के नाते स्वयं मेरी और रेल के डिब्बे में छाये सामान्य समाज की बारीक शिरकत थी। संस्कृति के निरन्तर बदलते बनते जीवन को चैन से देखने का इससे बेहतर कोई अवसर और तरीका शायद ही हो।

एक और लाभ मुझे समय का मिला। बच्चों और बड़ों को साथ साथ देखने का मौका प्रायः विशेष अवसरों पर या फिर दिन के एक खास समय ही मिलता है। शादी जैसे विशेष अवसर पर बड़े अपने आसपास मँडराते फुदकते बच्चों को इस अंदाज में पुकारते हैं जैसे आज की शाम उन्हें प्रायद्वीप में बिखरे कुटुम्ब को फिर से जोड़ देना है। बड़े-बूढ़ों से छोटे बच्चों का नाम पिता-चाचा वाला परिचय कराते हुए बीच वाली पीढ़ी के स्त्री पुरूष थोड़ी देर के लिये इस हौसले से भर उठते हैं कि वे भूमण्डल की विराटता के बीच अपने वृहद् परिवार की छोटी-सी पहचान और एकता अक्षुण्ण रख लेंगे। इस उत्फुल्ल माहौल में बच्चों से होने वाला बड़ों का संवाद दरअसल संवाद नहीं, एक तरह की धार्मिक कार्यवाही होता है। इस कार्यवाही को ध्यान से देखकर हम संस्कृति के स्थायी भावों को भले पहचान लें, उन संचारी भावों को नहीं पकड़ सकते जो लगातार नये-नये राजनैतिक समीकरण बनाकर परिवर्तन का इस समय गुज़रता हुआ इतिहास रचते है। इसी से मिलती-जुलती सीमा उन मुलाकातों की है जो शहरी जीवन की धक्काधाई के बीच किसी किसी शाम अब भी हो लेती है और कुछ परिवारों में बची हुई परम्परा या चिन्ता के कारण बच्चों की उपस्थिति में होती हैं। मेरे बचपन के दिनों में इस बात को पारिवारिक संस्कृति के कानून का दर्ज़ा प्राप्त था कि जब कोई मेहमान शाम को आये तो माता-पिता के अलावा बच्चे भी बैठें। टीवी तब नहीं आया था। शाम के समय किसी के घर जा बैठना आम बात थी। तब मध्यम वर्ग के शहरी क्या, कस्बाई जीवन में भी इस किस्म का आना-जाना रोज़मर्रा की बात नहीं रही। जब कोई जाता भी है तो यह उम्मीद नहीं की जाती कि बच्चे भी उसकी बातें सुनेंगे या कुछ बोलेंगे। कुछेक परिवारों में वे अभिवादन करके और गालों या सिर पर मेहमान की कोमल चपत का स्नेह खाकर अपने कमरे में लौट जाते हैं जहाँ उन्हें शैशव काल

से इम्तहानों की तैयारी करनी होती है। वे यदि मेहमान की उपस्थिति में बैठते भी हैं तो टीवी के कारण जो, मेहमान हो—न हो, सदा खुला रहता है और जगत की छायाएँ पलट-पलट कर दिखाता रहता है।

ऐसे अवसरों पर बच्चे और माँ के बीच बँधा तार देखना एक बाहरी आदमी के लिए बहुत ही मुश्किल है, इसलिए वह प्रयास मैं करता भी नहीं हूँ। कहीं बेहतर होता है कि इतवार के दिन पार्क की घास पर लेटकर पास में पिकनिकाते परिवार के शब्दों पर कान लगाया जाये या फिर बस अथवा रेल में शिवम् और उसकी माँ की तरह कोई मिल जाए जो मेरी अजनबियत को समेटकर चलती हुई गाड़ी की निश्चिन्त शाम और सुबह भर अपने निजी संवाद को सार्वजनिक होने की इजाज़त दे दे। इस इजाज़त में कोई संस्थाई औपचारिकता नहीं होती। हो भी क्यों? यदि मैं किसी के संवाद से अपने समाज को बेहतर समझ पाता हूँ तो उस समझ को लिखकर बाँटना एक स्वाभाविक काम होना चाहिये— उतना ही स्वाभाविक जितना शिवम् से उसकी माँ का संवाद था। शिवम् के सामाजिक स्वभाव की रचना जिन नैतिक श्रेणियों की स्थापना के जरिये हो रही थी, वे गढ़ी जाती श्रेणियाँ नहीं थी, पूरे सामाजिक जगत में व्याप्त श्रेणियाँ थीं। एक सामान्य मध्यमवर्गीय माँ के शब्दों से हुई उन श्रेणियों की पुनर्रचना उतनी ही महत्वशाली घटना थी जितनी किसी देश के खोए हुए आत्मबल के राजनैतिक जुगाड़ के लिये अणुबम का विस्फोट करवा देना।

उस सम्वाद का वृहत्तर हिस्सा माँ की टिप्पणियों की शक्ल में था। शिवम् अपनी तरह से न कुछ पूछता था, न बताता था। संवाद में उसकी भागीदारी तरह-तरह की हरकतों टिप्पणियों को उद्दीप्त करती थीं। हम कह सकते है कि शिवम् अपने हाथों से अपने आसपास के नैतिक जगत को छूने या उलटने-पुलटने की कोशिश करता था और शिवम् की माँ इन कोशिशों को अपनी टिप्पणी का विषय बनाकर शिवम् की मानसिक रचना करती चलती थी। माँ की टिप्पणियाँ संक्षिप्त थीं— अक्सर एक विशेषण और प्रश्न में सिमटी हुईं। माँ के ये विशेषण और प्रश्न शिवम् की हरकतों का वर्गीकरण करते चलते थे। शिवम् के हाथ जैसे ही किसी चीज़ को छूने के लिये आगे बढ़ते थे, माँ के शब्द दो संभावित टिप्पणियों का आकार लेने लगते थे। मोटे तौर पर मुझे लगता है कि माँ कि टिप्पणी के इन दो वैकल्पिक रूपों को हमें दो तरह की बोध योजना मानना चाहिए, पर थोड़ा गहराई से सोचूँ तो मुझे इन दो बोध योजनाओं के बीच एक गहरा सम्बन्ध नज़र आता है।

शिवम् का हाथ जब किसी दिशा में आगे बढ़ता था तो इस बात की काफी सम्भावना थी कि माँ की टिप्पणी सबसे पहले शिवम् की इस हरकत को *'गन्दा'* करार दें। शुरू-शुरू में मुझे लगा कि शिवम् कुछ भी छुए या छुने के लिये अपना हाथ बढ़ाये, माँ इस कोशिश में संलग्न शिवम् को *'गन्दा'* ही बताएगी। बच्चा जब हाथ बढ़ाएगा तो किसी न किसी चीज़ को छुएगा ही। मैंने पाया कि वह चीज़ सीट हो या खिड़की की सलाख हो, टिफिन का डिब्बा हो या जूता हो, उसे छूकर शिवम् *'गन्दा बच्चा'* ही कहलायेगा। रोचक बात थी कि माँ चीज़ों को *'गन्दा'* नहीं बता रही थी, उन्हें छूते हुए बच्चे को *'गन्दा'* बता रही थी। आशय यही दिखता था कि अपने आसपास की कोई भी चीज़ छू लेने से शिवम् *'गन्दा'* हो जाएगा; यानि वह तभी तक गन्दा नहीं है जब तक वह अपने आप में सिमटा हुआ बैठा है। संसार की हर चीज़, जो उसे अपनी ओर खींच रही है, उसे *'गन्दा'* कर देगी।

शाम बढ़ जाने पर मैंने पाया कि माँ की टिप्पणियाँ इतनी एकायामी नहीं है जितनी मुझे शुरू में लगी थीं। रेलगाड़ी के बैरे ने भोजन के लिये मेरा आर्डर ले रखा था। भोजन आया तो शिवम् मेरी थाली देखकर आकर्षित हुआ। मेरा अन्दाज़ है कि वह विशेषकर चाँदी रंग के उस कागज़ से आकर्षित हुआ था जिससे दाल, सब्जी और चावल ढँके रहते हैं। जैसे ही शिवम् का हाथ चाँदी की तरफ़ बढ़ा, उसकी माँ ने एक नयी तरह की टिप्पणी की जिससे



मुझे माँ की समीक्षादृष्टि समझने में यकायक भारी मदद मिली। माँ के शब्द थे— *'गन्दा बच्चा'* अंकल की चीज़ छूता है।' कौन सी चीज़ किसकी है, यह प्रश्न शिवम् के लिए उसकी माँ ने कितना बुनियादी माना है, यह बात मेरे लिये अब लगातार खुलती गयी और सुबह तक इतना खुल गयी कि मुझे शिवम् की माँ का परिप्रेक्ष्य पूरी तरह समझ में आ गया। शिवम् उन तमाम चीज़ों को हाथ लगाते हुए *'गन्दा'* बनता था जो *'उसकी'* नहीं; किसी और की थीं। मैंने जान लिया कि शिवम् की माँ द्वारा इस्तेमाल की जा रही बोध योजना में निहित नैतिक बोध वास्तव में संपत्ति बोध का अंग था। कुछ चीज़ें ऐसी थीं जिन्हें छूकर शिवम् *'अच्छा'* बना रह सकता था। ये चीज़ें उसकी अपनी चीज़ें थीं। एक झुनझुना था, एक टेलीफोन था, उसका अपना अलग प्लास्टिक था, एक गिलास था। इन चीज़ों को छूने की इजाज़त उसे प्राप्त थी ये चीज़ों उस जगत से अलग थीं जिन पर किसी अव्यक्त सत्ता का अधिकार था, *'अंकल'* यानि मेरा या पास में बैठी एक आंटी का। कई बार ऐसा हुआ कि कोई चीज़ जो रेलवे की थी, शिवम् के स्पर्श से बचाये जाने की खातिर उसकी माँ के शब्दों में *'अंकल'* की हो गयी। आशय यही था कि शिवम् उन चीज़ों को छूने की इच्छा से *'गन्दा'* हो जाता है जो उसकी अपनी नहीं है यानि उसकी माँ ने उसी के लिये नहीं खरीदी हैं।

संसार में फैली चीजों को छूकर स्वयं *'गन्दा'* हो जाने का विकल्प अब मेरे लिये स्पष्ट हो गया। विकल्प यह था कि उन्हीं चीज़ों को छुआ जाए जो *'अपनी'* हो चुकी हैं। शिवम् के नैतिक प्रशिक्षण की यह भीतरी परत निश्चय ही बहुत कुछ सोचने-समझने की प्रेरणा देने वाली थी। अव्वल तो स्पर्श का अपना शास्त्र कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, तिस पर उसका यह आधुनिकीकरण या बाज़ार की अर्थ-व्यवस्था में प्रवर्तन। स्पर्श के कारण स्वयं अपवित्र हो जाने की आशंका जाति-व्यवस्था का, विशेषकर उसके वर्ण व्यवस्था से सम्बन्ध का, एक पाया रही है। मैं अपने स्पर्श से किसी दूसरे को गन्दा कर दूँगा, इस भौतिक सम्भावना की जगह वर्ण की अवधारणा ने स्पर्श करने वाले के स्वयं गन्दा हो जाने की सम्भावना को वरीयता दी। शायद इस मनोवैज्ञानिक व्यतिक्रम का ही एक रूपाकार वह इत्मीनान है जिसके साथ लोग मिठाई की दुकान पर रखी मिठाइयों को छू-छूकर पता लगाते हैं कि वे ताज़ी हैं कि नहीं। उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं होती कि मिठाइयाँ उसके स्पर्श से प्रदूषित हो जायेंगी। जाति व्यवस्था ने यह मनोविज्ञान सवर्णो और अछूतों के सन्दर्भ में रचा। शिवम् के मनोजगत की रचना उसकी माँ स्पर्श की मदद से अपने और पराये का भेद सिखाकर कर रही थी। उसके इस प्रयत्न में हम एक रीतिबद्ध सोच का नयी संवेदना में प्रवेश देख सकते हैं। माँ बेटे के संवाद का यह फलक हमें इस रहस्य का एक हल दे सकता है कि जाति की मानसिकता लाख परिवर्तनों के बावजूद क्यों जीवित है— और वह भी शिक्षित मध्यमवर्ग में।

शिवम् और उसकी माँ के सम्वाद का तीसरा खंड खाने-पीने से सम्बन्धित था। लालन पालन का यह वह क्षेत्र है जहाँ माँ का जबाव और बच्चे की स्वायत्तता का पूर्ण तिरस्कार आम मध्यमवर्गीय घर के दैनिक रिवाज़ में अच्छी तरह स्थापित चले आए हैं। माताएँ सोचती हैं कि उनकी मनुहार के बावजूद बच्चा खायेगा या पियेगा नहीं; तो कमजोर हो जाएगा या शायद भूखा भी मर जाए! उधर बच्चा बहुत जल्दी समझ लेता है कि माँ से लड़ने और अपनी ताकत आज़माने के लिये दूध के गिलास या रोटी से बेहतर कोई युद्धभूमि नहीं। शिशु का यह राजनैतिक प्रशिक्षण देश में लोकतन्त्र की स्थापना से पहले से चला आ रहा है, वरना मै इसे भारतीय लोकतन्त्र के सूक्ष्म आधारों में से एक मानने में संकोच न करता। लेकिन शिवम् की माँ ने भोजन की युद्धभूमि को एक और ही स्तर पर पहुँचा दिया था। शिवम् पर दबाव बनाने के लिए वह हर चीज़ के बारे में कहती थी— *'इसे फ़िनिश करो, नहींतो मम्मी फ़िनिश कर देगी।'* उसकी इस धमकी का अभिप्राय स्पष्ट था। हर चीज़ लगातार *'फ़िनिश'* की जाने की प्रक्रिया में है; याकि शिवम् आगे नहीं बढ़ेगा तो कोई और *'फ़िनिश'* कर देगा। यहाँ तक कि शिवम् की

माँ ने मुझे भी *'फ़िनिश'* करने पर आमादा शक्तियों में शामिल कर लिया। जब शिवम् पानी पीने में आनाकानी करने लगा तो उसकी माँ ने कहा - *'जल्दी करो, नहीं तो अंकल फ़िनिश कर देंगे।'*

उपभोग की चीज़ों के खत्म हो जाने का डर भौतिकवाद, विशेषकर उसके पूँजीवादी संस्करण, का अनिवार्य अंग है। चीज़ों के कम पड़ जाने का डर भी इसी बड़े डर का अंग है और कौन कह सकता है कि वह रोज़ किसी-न-किसी वस्तु या अवसर के सन्दर्भ में इस डर का अनुभव नहीं करता? दिल्ली हो या कोई छोटी जगह, मध्यमवर्ग का मन सुबह से इस डर से जूझता है कि आज पानी आयेगा या नहीं बिजली आयेगी, दूध मिलेगा? और फोन, सफ़र, संदेश, स्वास्थ्य जैसी तमाम चीज़ों को लेकर मन व्याकुल रहता है और किसी न किसी तरह के आरक्षण की तरफ भागता है। हर सन्दर्भ में चिन्ता एक सी होती है—कि मेरे दावे से पहले किसी और का दावा सफल न हो जाए। रेल की सीट हो या अस्पताल का बिस्तर, नल का पानी हो या कालिज की सीट, हर चीज प्रतिद्वन्द्विता के घेरे में है। जिंदगी का हर क्षण, शरीर का हर अंग, सामाजिक सम्बन्धों की बुनावट का हर फंदा कह रहा है—मुझे उपभोग की सुविधा दो; चेतो, मेरी सुविधा कोई दूसरा न छीन ले। पानी पड़ोसी के नल में न चला जाये, इसके लिये टुल्लू पम्प से पानी खींच लो। जल्दी करो, अपनी फ़ाइल ढेर में सबसे ऊपर रखवाने के लिए कमर कस लो। खिड़की खुलते ही नहीं; खुलने के घंटों पहले पहुँच जाओ, तभी टिकट तुम्हारा हो सकता है। इतने भीषण अभाव बोध से ग्रस्त संसार में शिवम् का यह प्रशिक्षण उचित ही है कि वह अपने हिस्से के चावल इसलिये ज़रूरी से खा ले जिससे मम्मी न खा जाये।

पर बेटे और माँ के बीच यह स्पर्धा सिर्फ़ अभाव बोध की दीक्षा नहीं है। अभावबोध की भीतरी परत में समय की दीक्षा भी है जो उपभोग से पहले अस्तित्व की बात करती है। चीज़ें *'खत्म'* हो रही हैं तो सिर्फ़ इस कारण नहीं कि हमारे पहले कोई और उनका उपभोग किये ले रहा है। चिन्ता तो पुरानी है, तभी कौमार्य पर इतना जोर रहा है हालाँकि उसमें और भी पहलू हैं। आज की नयी बात उपभोग को अस्तित्व से जोड़ने में घटी है। उपभोग कोई तभी करेगा जब जीवित रहेगा, इसलिए प्रतिद्वन्द्वी उपभोक्ता को शत्रु मान लो और उसे खत्म कर दो। दरअसल यह कथानक भी पुराना ही है, पर आज वह पहले से कहीं ज्यादा क्षिप्र हो उठा है। अभी के कारगिल प्रसंग में कहे गये हज़ारों विवेचनीय वाक्यों में से एक जो हमारे शीर्षस्थ नेताओं ने बोला, यह था कि हम पाकिस्तान के परमाणु हमले के लिये *'तैयार'* हैं। ज़ाहिर है, तैयारी से लक्ष्य परमाणु हमले की विकरालता सहने की ताकत से नहीं था। आशय था कि पाकिस्तान हम पर परमाणु हमला करने से बाज़ आए क्योंकि यदि वह करता है तो हम भी करेंगे। हम एक दूसरे को *'फ़िनिश'* कर सकते हैं; यही हमारी एक दूसरे को ज़िन्दा देखने की सामर्थ्य का आधार है।

शिवम् इसी तरह की सहिष्णुता में दीक्षित हो रहा है। उसके समाजीकरण के इस पहलू की प्रासंगिकता से चिंतित होना व्यर्थ है। यदि हम चाहें कि सहिष्णुता का एहसास उसे अपेक्षाकृत अधिक उदार रूप में मिले तो उसके लिये शिवम् की माँ से अपील करना व्यर्थ होगा। शिवम् की माँ पर असर डालने के लिए हमें पहले भारत और पाकिस्तान दोनों के परमाणु कार्यक्रम स्वेच्छा से खत्म कराने होंगे। यह काम कठिन है पर शिवम् की माँ को मनाने से ज्यादा आसान है। दोनों देशों के बम आज ढीले कर दिये जाएँ तो बीस साल बाद शिवम् जैसे किसी और बच्चे की माँ उसे किसी और शैली में खाने के लिये मनायेगी। आज वाली माँ के सन्दर्भ में चिंता के योग्य शिवम् के समाजीकरण का पहला हिस्सा है। चीज़ें छूकर *'गन्दा'* हो जाने वाली बात कुछ ज़्यादा ही बासी है। वह उस ज़माने से जुड़ी है जब बड़े होने और संसार को समझने के लिए चीज़ें छूना ज़रूरी नहीं माना जाता था। वर्णज्ञान से सम्बन्धित जातीय युवा स्मृतियों के सहारे यह बात आज की एक माँ तक पहुँची है। यह पत्ती सूखकर कब की गिर जानी चाहिए थी, पर अभी तक लटकी है।



मुकुन्द लाठ

# राग का इतिहास : एक विहंगम दृष्टि

संगीत पर शास्त्र चिन्तन करने वाले या संगीत के रूप और भाव का विमर्श करने वाले मेरे कुछ मित्र कहते हैं, राग- संगीत ही भारत का एकमात्र संगीत नहीं है। और भी रूप हैं संगीत के। संगीत-विचार को उधर भी अभिनिवेश के साथ मुड़ना चाहिए। *'राग राग'* यह आलाप बहुत हो चुका। इससे लगता है जैसे भारत के संगीत में राग-संगीत ही सब कुछ है। पर जनजातियों से लेकर जनपद, नगर, बाज़ार, सबके प्रयोग में—और सबकी रुचि में—संगीत के ऐसे भी अनेकानेक रूप हैं जिनको राग से जोड़ना दूर की कौड़ी लाना ही होगा। हाथ कुछ आया भी तो जिस कवायद से हाथ आयेगा वह महँगी पड़ेगी। पर बात महंगे सस्ते की नहीं है। बात यह है कि हमारा ध्यान अब राग-भिन्न रूपों की ओर मुड़ना चाहिये। हम राग-भिन्न रूपों को पैठ कर देखें तो संगीत के और लोक और क्षितिज खुलेंगे, जिनकी ओर हमारा संगीत-शास्त्र, हमारा संगीत-चिन्तन आँख ही नहीं डालता।

बात सच है। हमारे यहाँ राग-संगीत ही एकमात्र संगीत नहीं है और न रहा है। हमारे विचार का क्षेत्र अगर राग-संगीत के बाहर भी जाये तो बहुत अच्छी बात होगी। राग-संगीत के लिए भी अच्छी बात होगी। क्योंकि विचार का धर्म ही है कि विचार अपने विषय को भीतर से ही नहीं बाहर से भी समझना परखना चाहता है—किसी भी विषय के स्वभाव स्वरूप का लक्षण उसके व्यावर्तकों के माध्यम से करता है। चाहें तो इसे अपोह का मार्ग कह लीजिये। यह वस्तु-विचार के केन्द्र में होता ही है। प्रकट ही है कि राग क्या है, इसे जानने के लिए राग क्या नहीं है, इसे जानना ज़रूरी है। हमारी आगे की चर्चा में भी इस प्रश्न पर अपनी तरह से विचार होगा। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि ध्यान राग-संगीत से हटा दिया जाये—जैसा तात्पर्य कि आज के अपोहवादियों के स्वर में ध्वनित होता है।

भूलना नहीं चाहिए कि राग संगीत हमारी परम्परा का सबसे *'उच्चाँग'* संगीत रहा है। हमारी प्रतिभा की—सृजनशीलता की—गहरी से गहरी और सबसे अधिक आत्मचेतन डोर उसी से बँधी रही है। इसीलिए विचार और शास्त्र की परम्परा का भी वही सदियों से केन्द्र रहा है। हम इस शास्त्र-बोध के वलय को बढ़ायें, यह तो समझ में आता है पर उसे किसी लक्ष्मणरेखा जैसी परिधि से बाँध कर उसे अलग रख देना चाहें, यह कौन सी समझदारी है ? राग-भिन्न के प्रति हमारे बोध का तेवर मगर कुछ ऐसा ही सा जागता दीखता है।

यह चर्चा यहाँ इसलिए भी कर रहा हूँ क्योंकि यह बोध और यही तेवर राग तक ही सीमित नहीं

है। संस्कृति मात्र पर व्याप्त है। 'राग नहीं कुछ और' यह स्वर उसी स्वर का संवादी है जो कहता है 'संस्कृति की पहली परम्परा को छोड़िये; दूसरी (तीसरी, चौथी...) भी है, उधर बढ़िये, उधर ही बढ़िये, उनमें पैठिये।' ऐसी बातों के पीछे एक असन्तोष है, आक्रोश है, जो समझ में आता है। हम संस्कृति को वैसा चाहते हैं जैसी वह हमें लगती नहीं है। हम उसे एक नयी धारा देना चाहते हैं। और इसका एक सुगम रास्ता यह झलकता है कि पुरानी किसी 'गौण' मानी जाने वाली धारा को उभारा जाये जिसमें मनोवांछित गुण दिखाई देते हों। पर एक तो गौण और मुख्य की पहचान कोई एक अमोघ पहचान नहीं होती, इस पहचान में भी दृष्टि भेद हो सकता है—यह पहचान इतिहास-दृष्टि की बात है और इतिहास दृष्टि तो स्वभाव से ही बहुधा-विभक्त होती है। फिर बात यहाँ आकलन की है—जाँचने-परखने-आँकने की। किसी भी संस्कृति में यह काम जो धारा करती है, उसी को मुख्य कहा जाता है। आज का जो मानस दूसरी, तीसरी परम्पराओं की बात करता है, वह भी यही मान कर चलता है। यह मानस चाहता है कि हमारी विचार-बुद्धि का, आदर्श-बोध का आधार दूसरी, तीसरी... परम्परा हो। इस उद्दिष्ट परम्परा को अधिक 'लोक'-निष्ठ माना जाता है, और साथ यह भी माना जाता है कि यह परम्परा 'स्वस्थ' प्रतिभा के उन्मेष में स्वतन्त्र और मुखर है। पर आत्मबोध, आत्म-आकलन की वाणी में मूक। सृजनशील है पर शास्त्रहीन। यह बात हम पहली परम्परा में रहकर ही करते हैं। 'पहली' कहलाने वाली परम्परा दृष्टि की परम्परा भी होती है। दूसरी, तीसरी, चौथी... की पहचान भी वही करती है, और उनका आकलन भी। लेकिन एक बात और है। किसी भी पुरानी, समृद्ध संस्कृति में आत्मचेतन परम्परा एक ही दृष्टि में निष्ठ नहीं होती। दृष्टि-भेद—गहरा से गहरा दृष्टि भेद—आत्मचेतना का सहज गुण होता है। जिस दृष्टि-भेद की खोज में हम 'दूसरी' परम्परा की बात करते हैं, वह प्रकट पहली में ही होता है। क्योंकि दृष्टि-भेद वहाँ सहज है। 'दूसरी' में जो दृष्टि होती है, जो हमें आकर्षित करती है, वह दृष्टि अप्रकट होती है, ऊह्य या अन्तर्निहित रहती है, ऊहापोह में उजागर नहीं। उसे उजागर करना पड़ता है। एक बार वह उजागर हो जाये तो 'पहली' ही परम्परा को विस्तार देती हुई उसका अंग हो जाती है।

मैंने यह प्रसंग से बाहर लगती सी बात इसलिए भी उठायी है कि राग के इतिहास में हमें एक बड़ा निखरा हुआ ऐसा दृष्टान्त मिलता है, जहाँ दूसरी परम्परा पहली को विस्तार देती है। राग-लक्षण-शास्त्र के पहले ही ग्रन्थ में प्रकट है कि राग लोकनिष्ठ परम्परा की—'दूसरी' परम्परा की—रूप-कल्पना को आधार बनाता है, उसे शास्त्र और सृजन का आत्मबोध देता है। इससे लोक और शास्त्र-निष्ठ राग, दोनों में एक नये चिन्तन और मन्थन का क्षितिज उभरता है। रागशास्त्र के पहले ग्रन्थ का नाम है, बृहद्देशी। 'देशी' शब्द यहाँ राग-संगीत के लिए प्रयुक्त है, जिसे लोक-परम्परानिष्ठ ही नहीं, स्वभाव-स्वधर्म से भी 'लौकिक' ही माना जाता था। 'बृहद्देशी' शब्द की अभिधा और ध्वनि को देखिए। अभिधा यह है कि देशी संगीत पर यह एक बृहत् ग्रन्थ है। देशी के विकीर्ण रूपों का एक विराट आकार है—विवरण, वर्णन, लक्षण है। ध्वनि यह है कि देशी की संकीर्णता को यह बृंहण देता है। उसकी बारह कोस की सीमा में बँधी 'बोली' को सार्वजनीन शास्त्र के 'मार्ग' पर लाता है—उसे ऐसा व्याकरण देता है कि वह सबकी बोली हो सके : सर्वदेश की प्रतिभा का आश्रय। इस बृंहण के विषय में बृहद्देशी की अपनी एक विलक्षण दृष्टि है— आलाप-दृष्टि—जिस पर हम आगे विचार करेंगे।



आज दूसरी परम्परा के बृंहण की बात तो होती है—पर देशी को बृहद्देशी का रूप दे, ऐसा कोई विचारसूत्र दिखाई नहीं देता। बात एक नारे जैसी ही जान पड़ती है। कारण शायद यह है कि हमारी विचार संस्कृति ही संकट में है। हमारी 'पहली' संस्कृति का आत्मबोध अपना नहीं है, परमुखापेक्षी है। पर अब बात को यहीं छोड़ता हूँ, आगे नहीं बढ़ाऊँगा। और प्रसंग-बाहर नहीं हूँगा।

पर प्रसंग-प्रवेश में फिर भी अवरोध आगे आता है। राग का इतिहास आँकने बैठा हूँ तो एक प्रश्न विषय प्रवेश के पहले चौखट पर ही टोक देता है। राग का इतिहास क्यों? इसका प्रयोजन ही क्या है? प्रश्न अटपटा लग सकता है। आज हमारे किसी भी विषय के आकलन में विषय का इतिहास विषय-विचार का एक अभिन्न अंग होता है। विषय-बोध में ही अन्तर्गूढ़ बुद्धि का आज कुछ ऐसा संस्कार है हमारा कि इतिहास के बिना हम समझते ही नहीं कि विषय का आकलन भी हुआ। कला में—जैसे साहित्य में या चित्रकला में—यह संस्कार हमारे विषयबोध के और भी केन्द्र में है। लेकिन है यह संस्कार ही। क्योंकि नहीं भी हो सकता था। कोई और संस्कार हो सकता था। सच पूछिये तो पहले बुद्धि का संस्कार कुछ और था ही। और एक गहरे अर्थ में अब भी है—संगीत में ही प्रकट है। चित्रकला में आज हमारा कलाबोध, उसके रूप, उसके परख की कसौटियाँ—ये बहुत कुछ पश्चिम-प्राण हैं। इसीलिए हम वहाँ भारतीयता की भी बड़ी व्यग्र खोज करते हैं। कलाबोध में इतिहास को बोध की नाभि पर रखना, यह संस्कार भी पश्चिम से ही आया है। हमारा राग-संगीत पश्चिम-प्राण नहीं है। वहाँ चिन्तन के संस्कार भी 'देसी' हैं। इतिहास की माँग नहीं करते। हम अपने ही भीतर झाँक कर देखें तो बात को और अच्छा भाँप सकेंगे। हम चित्र देखते हैं तो यह अपेक्षा कौंधती रहती है कि चित्र के इतिहास में इसे कहाँ और कैसे रखें। तभी इसका 'मर्म' पकड़ में आता दीखता है। चित्रबोध में यह मानस सहज होता है। लेकिन वहीं हम जब चित्र से राग की ओर मुड़ते हैं तो इतिहास की अपेक्षा नहीं करते। उसका नहीं होना भी सहज होता है। हमारे लिए राग की परम्परा में सहृदयता की कसौटियाँ इतिहास को शामिल नहीं करतीं। इस बात को ध्यान में रखें तो 'इतिहास क्यों' यह प्रश्न अजीब नहीं लगेगा। उल्टे बुद्धि अपने संस्कार पर ही प्रश्न उठा सकती है कि आखिर किसी विषय-बोध के लिए उसके इतिहास बोध की ज़रूरत ही क्यों? हम यह नहीं कह सकते की हमारा चित्र-बोध हमारे संगीत-बोध से अधिक गहरा है—गहरा कहें भी तो यह नहीं कह सकते कि गहराई का कारण बोध में इतिहास का होना है। सच पूछिये तो थोड़ा अपने ही भीतर खोद कर, अपनी ही टोह लेकर देखने पर यह प्रश्न और भी व्यापक होकर उठता है कि इतिहास क्यों? कला में ही नहीं बुद्धि के किसी भी विषय-बोध में उसकी सार्थकता क्या?

यों देखें तो जो प्रश्न चौखट पर उठा है उसका नहीं उठना ही अटपटी बात है। विशेषकर हमारे लिए। कहना न होगा कि हमारी विचार परम्पराओं में गम्भीरता और व्यापकता का अभाव नहीं है। हमें उससे जब शिकायत होती है तो भी ऐसा आक्षेप हम नहीं करते। उस परम्परा ने कभी इतिहास-बोध को विचार का अंग नहीं समझा, जैसा कि आज सहज ही समझा जाता है। यह

समझ आज सहज ही नहीं प्रबल भी है—प्रबल द्वारा दी गई है। इसकी प्रेरणा से हम आज अपने ही ऊपर आक्षेप करते हैं और खेद करते हैं कि देखो हमारे यहाँ इतिहास-बोध जैसा बुद्धि के लिए आवश्यक बोध ही नहीं पनपा; हमें बाहर से लेना पड़ रहा है। पर यहाँ यह भी सोचिये। ठीक है कि बुद्धि संस्कार-ग्रस्त होती है। पर उसका संस्कार-त्रस्त होना आवश्यक नहीं। तटस्थ हो पाना बुद्धि का स्वभाव धर्म है। न हो तो बुद्धि की बात करना ही बेकार है। अगर एक विचार-संस्कृति इतिहास-बोध को आवश्यक समझती है पर दूसरी उतनी ही बुद्धिनिष्ठ संस्कृति ऐसा नहीं समझती रही है, तो निष्कर्ष स्पष्ट है। निष्कर्ष यह नहीं हो सकता कि विचार की एक संस्कृति में कोई अखरने वाली कमी है।

बुद्धि-संगत यही निष्कर्ष हो सकता है कि अगर ऐसा है तो फिर जिस इतिहास-बोध को हम विचार और समझ का अभिन्न अंग मान रहे हैं, उसकी सार्थकता को असंदिग्ध मान लेने से काम नहीं चलेगा, उसे प्रश्न के कटघरे में डाल कर उस पर ऊहापोह, विमर्श आवश्यक है।

ऐसा कोई ऊहापोह या विमर्श मैं यहाँ नहीं करूँगा। बात इसलिए उठायी कि इतिहास का अभाव हमें बोझ की तरह न सताये। सब संस्कृतियों में सब कुछ नहीं होता। पर एक संस्कृति जब हावी हो तो दूसरी की आँख अपने धन पर नहीं जाती, उसी धन पर टिकी रहती है जो पहली के पास है, और उसके पास नहीं है। यह ग्लानि उसके दैन्य को और भी बढ़ाती है।

अस्तु। पर फिर प्रश्न यहाँ यह सर उठायेगा कि मैं यहाँ इतिहास लिखने बैठा ही क्यों हूँ और वह भी राग का इतिहास, जहाँ इतिहास का अभाव मुझे खास खटकता हो, ऐसा मेरी बातों से नहीं लगता।

मैं इतिहास का विद्यार्थी रहा हूँ। इतिहास पढ़ाता भी रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि इतिहास अपने आप में जिज्ञासा और संधान का सार्थक क्षेत्र है। क्षेत्र नया भी है और इस अर्थ में तो नया है ही कि इतिहास को संस्कृति के पुरुषार्थ मात्र की, विद्यामात्र की—संस्कृति की हर साधना के तोल की और पकड़ की कुंजी माना जाये। यह प्रवृति पश्चिम में १८वीं-१९वीं सदियों में पनपी और फैली। इसी प्रवृत्ति ने इतिहास को आज मनुष्य के मूल्यांकन की तुला बना रखा है। मनुष्य का संस्कृति से तादात्म्य माना जाता है और विभिन्न संस्कृतियों का उनके इतिहास से। यों हर संस्कृति को और वहाँ के मनुष्य को संस्कृति के इतिहास से तोला, मोला जाता है। दृष्टि आधुनिक पश्चिम की है इसलिये तोल मोल की कसौटियाँ भी आधुनिक पश्चिम की हैं। यह तो चलिए, समझ में आता है। एक संस्कृति के लिए—और वह भी जो विजेता रही हो—उसके लिए दूसरी संस्कृति का मूल्य-बोध—क्या साध्य है यह पुरुषार्थ बोध—अपनाना कठिन होता है। वह दूसरे को अपने ही प्रतिमान पर आंकती है। पर जिज्ञासु का औदार्य और विनय-बोध तो फिर भी हो ही सकता है। ऐसा नहीं कहूँगा कि आधुनिक पश्चिम में इस बोध का अभाव रहा है। पर आत्मगौरव का



बोध इस पर हावी ज़रूर रहा है। जिसने संस्कृति-वैविध्य को देखते समझते हुए भी यह धारणा प्रखर भाव से —और अकसर रुद्रभाव से—पाली है कि संस्कृति मात्र का गन्तव्य उसी मार्ग पर है जिस पर पश्चिम चलता रहा है और विशेष कर आज चल रहा है। 'आधुनिक' की धारणा इसी बोध से जन्मी है और इसी कारण 'आधुनिक' को पश्मित-जात मानते हुए भी उसे हर संस्कृति की हर प्रवृत्ति के लिए—विचार हो या विद्या या कला या राजनीति या समाज व्यवस्था—सब कुछ के लिए साध्य माना जाता है। बाकी चीज़ें—कोई अपनापन, कोई स्वधर्म-स्वभाव, अपनी अलग-अलग पहचान आदि ये सब कुछ अर्थ रखती भी हैं, तो पश्चिम-प्रसूत पर विश्वजनीन, 'आधुनिक' को साध लेने के बाद। यों रखकर देखें तो धारण विचित्र है। पर इतिहास का मनुष्य से तादत्म्य देखते हुए हम इसे पालते ही नहीं, अपनी बुद्धि का, अपने पुरुषार्थ का, निकष मानते हैं। पर यह भी देखना कठिन नहीं कि इतिहास की ऐसी धारणा पुराण के बहुत निकट है। शायद इसलिए हमने उसे अनायास अपना भी लिया है। 'आधुनिक' की धारणा बहुत कुछ 'कलियुग' की धारणा जैसी है— या 'कलियुग' यहाँ ठीक नहीं जान पड़ता हो तो पुराण-प्रसिद्ध किसी और युग को ले लीजिये: सतयुग या इतना भी ऊँचा दर्जा नहीं देना चाहें,तो 'त्रेता'। पुराणों में ये युग काल के ही धर्म हैं। युग का बदलाव जैसे समय के ही स्वभाव और स्वरूप का बदलाव है। इसलिए हर युग मनुष्य मात्र का युग होता है। ऐसा नहीं होता कि विभिन्न समष्टियों का और उनकी अलग संस्कृति यात्राओं का अपना अलग-अलग युग चक्र हो। पुराण ऐसा नहीं मानता। इतिहास ऐसा मान सकता है—उसे ऐसा मानना ही चाहिए, नहीं तो संस्कृति भेद करने का ही कोई उचित अर्थ नहीं बनता। पर 'आधुनिक' की धारणा यह नहीं मानती। 'कलियुग' या 'सतयुग' की तरह ही 'आधुनिक' मनुष्य मात्र के लिए है। मानो काल का ही चक्र प्रवर्त्तन है। थोड़ा अन्तर ज़रूर है। पुराण में युग परिवर्तन साध्य नहीं होता, सिद्ध होता है। मनुष्य उसे साधता नहीं, काल अपने आप उसे ले आता है। 'आधुनिक' को भी एक अर्थ में लाया काल ही है—हाँ, पश्चिम का ही मनुष्य उसका 'निमित्त' भी रहा है—पर आज जब कि वह युग आ गया है, तो उसे संस्कृति मात्र में साधना, यह मनुष्य का 'कर्त्तव्य' भी है।

आधुनिक की धारणा पश्चिम के इतिहास-बोध के केन्द्र में है, और यह उसके मनुष्य-बोध की अभिव्यक्ति है। 'हम आधुनिक हैं' यह बोध आज उतना ही गहरा है, जितना 'हम आज कलियुग में हैं', यह युगबोध हमारी संस्कृति में रहा है। इस बोध की गहराई का मेरे लिये सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि मैं अपने आप में इसको जागता धड़कता पाता हूँ। बुद्धि संशय करे, मन-प्राण इससे इनकार नहीं कर पाते। मनुष्य की कालयात्रा की धारणा और उसके साथ एक व्यापक परिवर्तन का बोध, ये हमारी स्मृति-गर्भ आत्मचेतना में ही निहित जान पड़ते हैं। आज यही बोध नयी दिशायें नयी धारणाएँ लेकर आया है। हम यह भी पाते हैं कि साम्प्रतिक इतिहास-बोध में और पुराने पौराणिक बोध में संस्कृति की चेतना कहीं केन्द्र में है। पर इतिहास और पुराण की बोध-पद्धति में या बोध-व्यापार में एक केन्द्र-भूत अन्तर भी है। इतिहास साक्ष्य के आधार पर यथातथ की साधना है—बुद्धि-विमर्श का व्यापार है; पौराणिक बोध भी यथातथ की ही बात करता है, पर उसका बोध-व्यापार बुद्धि का नहीं है।

पुराने समय में 'संस्कृति' यह शब्द प्रचलित नहीं था। हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं की तरह

संस्कृत में भी यह शब्द 'संस्कार' के आधार पर गढ़ा गया है। रूढ़ हो गया है, पर बहुत खिलता हुआ प्रयोग नहीं है। संस्कृति अगर मनुष्य के गर्भ में है तो 'संस्कार' से परिभाषित करना, मनुष्य-बोध को संकीर्ण करना जान पड़ता है—संस्कार में स्वातन्त्र्य नहीं बन्धन प्रधान है। मनुष्य क्या है, यह प्रश्न चिरन्तन है, जिसका उत्तर देते रहना भी मनुष्य की संस्कृति का एक अंग है। पौराणिक धारणा मनुष्य को धर्म से परिभाषित करती है। लक्षणीय है कि पुराणों में युग-परिवर्तन की धारणा 'धर्म' की स्थिति में परिवर्तन का रूप लेती है। ग्रीस के चिन्तन में रीजन (बुद्धि तर्क में निहित प्रज्ञा) इसे मनुष्य का व्यावर्तक धर्म माना जाता था। आज भी संस्कृति क्या है ? उसका व्यावर्तक स्वरूप क्या है ? मनुष्य में इसका आधार क्या है? ये प्रश्न चुभते हुए प्रश्न हैं। नयी बात यह हुई है कि संस्कृति को इतिहास की साक्ष्यमयी विद्या के साथ जोड़ दिया गया है और इसने एक नये युग बोध को जन्म दिया है जो कि छा गया है। हम पर भी छा गया है। यों विश्लेषण कर के देखें तो नयी बात यहाँ इतिहास विद्या की नयी दिशा या पद्धति ही है। मनुष्य की चेतना में संस्कृति बोध और युग बोध, ये पुराने हैं—चिरन्तन से हैं। इतिहास की नयी विद्या में एक नयी बात यह भी है कि बुद्धि का विषय होने के कारण यह विमर्श की सम्भावना में खुली हुई है। ऐकान्तिक होने का कितना ही दावा करें, है अनेकान्तिक। 'संस्कृति क्या है' यह प्रश्न अगर इस प्रश्न से जुड़ा है कि 'मनुष्य क्या है', तो इतिहास विद्या या कोई विद्या इसका निर्णय नहीं दे सकती। एक-दृष्टि या एक-निष्कर्ष-निष्ठ उत्तर तो नहीं दे सकती। इतिहास अगर ऐसा कोई उत्तर देने का दावा करता है तो यह उसका अतिचार है। आज के 'आधुनिक' की धारणा इस अतिचार की कोटि में ही आती है। इतिहास विद्या की पद्धति में या बोध-व्यापार में थोड़ा भी प्रवेश हो तो यह बात साफ दिख जाती है। बड़ी अनेकान्त विद्या है इतिहास-विद्या। निष्कर्षों के बाहुल्य में या 'बहुवचन' में ही बसी है, और विज्ञान की तरह यहाँ बहुवचन को एकवचन में बदल देने वाला कोई 'प्रयोग' भी सम्भव नहीं है। आप कह सकते हैं, यह तो फिर तर्क ही हुआ। जो 'आधुनिक' का युग-बोध मनप्राण में आ बसा है, उसका उत्तर नहीं। पर युग बोध का आधार अगर बुद्धि है तो तर्क भी एक उत्तर की दिशा है ही। एक बात और है जो कोरे निषेध-परक तर्क से आगे जा सकती है। वह है एक अपनी सी दृष्टि को ओर बढ़ना। मुझे लगता है कि हमारे यहाँ इतिहास की नयी विद्या तो आ गयी है, पर संस्कृति के पकड़ के साथ इतिहास का वैसा सम्बन्ध नहीं जुड़ पाया है, जैसा पश्चिम में है। यहाँ हम अपनी अलग-अलग दृष्टि के सही साधक नहीं हुए है। हों तो हमारा इतिहास-साध्य युग-बोध भी शायद बदल सकता है। विस्तार में नहीं जाऊँगा। एक बात को लेता हूँ जो यहाँ प्रासंगिक है। मैं समझता हूँ हम अपने शिल्प-कला के इतिहास पर नये सिरे से दृष्टि डाल सकते हैं। हम देखेंगे कि संगीत का इतिहास वहाँ एक प्रमुख स्थान रखता है। इतिहास पर आधारित साम्प्रतिक संस्कृति-बोध में किसी भी संस्कृति की कला और उसकी कालयात्रा को संस्कृति-मीमांसा में बड़ी महिमा दी जाती है। उचित भी है, और इससे संस्कृति-बोध को नया आयाम भी मिला है। पर संस्कृति को यों देखने की दृष्टि में एक विचित्र संकोच है जो रूढ़ सा हो गया है। संस्कृति के इतिहास का आदर्श, पद्धति, प्रथा, इन्हें हमने पश्चिम से पाया है। पश्चिम की इतिहास-परक संस्कृति मीमांसा का प्रधान लक्ष्य उसकी अपनी संस्कृति ही रहा है। दूसरी संस्कृतियाँ गौण रही हैं, बल्कि आनुषंगिक सी ही रही हैं—इस रूप में आनुषंगिक कि उन्हें अधिकतर पश्चिम की संस्कृति के व्यावर्तक के रूप में देखा



गया—यह देखने के लिए ही पश्चिम की संस्कृति क्या नहीं है।

जर्मन आदर्शवादी विचारक जो १८वीं १९वीं सदी में हुए, उनमें यह स्पष्ट देखा जा सकता है। आधुनिक संस्कृति मीमांसा का सूत्रपात करने वालों में इन विचारकों का शीर्ष स्थान है। इस विचार की गहराइयाँ और संकीर्णता दोनों में उनका हाथ है। दृष्टि बदलती रही है, पर उनकी कई रूढ़ियाँ अब भी चलती हैं।

जहाँ भिन्न संस्कृतियों में भी स्वतन्त्र मीमांसा जागी है, प्रारूप पश्चिम का ही रहा है। हम अपने आप को ही लें और अपनी कला की इतिहास-साधना को देखें। कला का इतिहास जहाँ तक एक बृहत्तर संस्कृति बोध का अंग है, पश्चिम में चित्र, शिल्प, स्थापत्य और साहित्य, इन्हीं कलाओं पर ध्यान अधिक टिका है। एक कारण स्पष्ट है। पश्चिम अपने संस्कृति की नींव प्राचीन ग्रीस में देखता है। अपनी यात्रा का मूल और पल्लवन वहीं के बोध में पाता है। जिस 'पुनर्जागरण' (रिनेसाँ) को वह अपने 'आधुनिक' की सशक्त, सफल यात्रा के पहले पड़ावों में देखता है, उसकी 'जागृति' प्राचीन ग्रीस के प्रति जागरूक होना था—ग्रीस के मर्म को अपने स्पन्दन में फिर से बसा लेना। कला में यह जागृति चित्र, शिल्प, स्थापत्य, नाट्य और साहित्य में ही आयी। संगीत ग्रीस से बहुत अलग हो चुका था, वहाँ न ग्रीस से कोई सम्बन्ध जुड़ सकता था न ग्रीक संगीत को फिर से जगाने का कोई रास्ता था। हम देखते हैं कि रेनेसाँ का संगीतबोध, संगीत साधना, अन्य कलाओं के बोध या साधना की तरह ग्रीस की ओर मुड़े ही नहीं। नृत्य या नृत्त तो किसी उच्चांग, विदग्ध और स्वयंप्रतिष्ठ शिल्प की तरह ग्रीस में था ही नहीं। पश्चिम में बहुत बाद में आया है। अचम्भे की बात नहीं है कि पश्चिम का ग्रीस-निष्ठ आत्मबोध संगीत और नृत्य को वैसा नींवगत स्थान नहीं देता जैसा दूसरी कलाओं को देता है। संगीत और नृत्य के इतिहास की धाराओं के देखने में दृष्टि और होती है।

इस दृष्टि के आकलन की ओर नहीं जाऊँगा। यहाँ प्रसंग की बात यह है कि हमारी अपनी संस्कृति में, संगीत और नृत्य सबसे प्राचीन है। प्राचीन स्वयंप्रतिष्ठ, आत्मचेतन कलाओं में इन्हीं का स्थान शिखर पर है। आज हमारे इतिहास-निष्ठ संस्कृति बोध में इनका कोई स्थान नहीं है। उलटे आदत हमारी कुछ ऐसी हो गई है कि इन्हें 'पारम्परिक' कह कर हम टाल देते हैं, अनाधुनिक और रूढ़िग्रस्त जो पुराने आनुवृत्तिमात्र भर है। यह कहना अपने अपने आप में एक रूढ़ि सी हो गई है। इसके पीछे इतिहास की कोई अपनी परख, मीमांसा या विमर्शदृष्टि नहीं है। हमारा अपना स्वतन्त्र संस्कृति-बोध इस दिशा में गहरे इतिहास-संधान की माँग करता है। मैं समझता हूँ कि इसके लिए कला की इतिहास-पद्धति को पश्चिम की कुछ रूढ़ियों और प्रथाओं से मुक्त होना होगा।

पहले ज़रूरी यह है कि हम संधान की ऐसी दिशा को सार्थक भी समझें। नहीं तो उधर पाँव क्यों मुड़ेंगे? मैं इधर कलाओं में भारतीय चिन्तन के इतिहास पर कुछ सोचता लिखता रहा हूँ। मेरी यह धारणा बढ़ती ही रही है कि संगीत और नृत्य के इतिहास में किसी गहराई से उतरे बिना हमारा कला के इतिहास का बोध ही नहीं, हमारा संस्कृति-बोध अधूरा रहेगा। अपने एक सार्थक पक्ष के प्रति अविचारित सा ही रहेगा। पर यह बात केवल 'कहनी' की नहीं है,'करनी' की

है। आँखों में तभी उतरेगी जब कोई चित्र उभारा जाये । कोई इतिहास सामने साक्षात खड़ा किया जाये जिससे लगे, 'हाँ, कुछ ध्यान देने की बात तो है।' यहाँ मैं यही चेष्टा करूँगा—राग-संगीत को लेकर। बहुत संक्षेप में, एक विहंगम दृष्टि के साथ, राग के इतिहास के दीर्घ विस्तार के एक बड़े अंश को अपने शब्दों में प्रस्तुत करने की चेष्टा करूँगा। दृष्टि विहंगम इस अर्थ में भी होगी कि चित्र में इतिहास का पसारा ही आगे आयेगा, प्रस्तार का अंग-प्रत्यंग, नखशिख नहीं। पर शायद फैलाव को देखकर नखशिख के प्रति आपका कुतूहल जागे और आप उधर बढ़े।

यहाँ चौखट पर 'इतिहास क्यों' के साथ अब एक और प्रशन जागता है जिसकी अनदेखी नहीं की जा सकती—इतिहास कैसा? आपको लग सकता है कि प्रश्न ही कैसा? इतिहास-विद्या आज एक प्रतिष्ठित विद्या है, विद्या है, कला के इतिहास के भी मार्ग उभरे हुए हैं, उन्हीं के सहारे बढ़ना है, उसमें कुछ फेर बदल, कुछ नये उपायों या नये कौशल की बात हो सकती है, पर 'इतिहास कैसा' की असमंजस बात क्या?

बात है। और इसलिए कि कला इतिहास के बने बनाये मार्गों पर हमारे लिए पहला चरण रखने की ही यहाँ समस्या है। कला का इतिहास जिन साक्ष्यों को, प्रमाणों को, सामने रखता हुआ बढ़ता है उसमें कला की प्रत्यक्ष उपस्थिति भी एक प्रधान साक्ष्य होती है—बल्कि यों कह सकते हैं कि कला के इतिहास में कला ही सब साक्ष्यों का मर्म होती है। पहले हम कलाकृति को सामने रखते हैं फिर किसी भरोसे के प्रमाण-दत्त आधार पर कलाकृतियों को एक काल-श्रृंखला में डालते हैं। तब उनका इतिहास-चित्र आँकते हैं। इस प्रक्रिया की अपनी समस्याये हैं। एक बड़ी समस्या है 'खरेपन' कीः क्या कृति उसी रूप में उपलब्ध है जिसमें कृत हुई थी? क्या उसी काल की है जिसकी हम समझ रहे हैं? क्या इसका कोई कृती भी है? है तो साक्ष्यों में उसका कोई परिचय भी है क्या? आदि चित्र, स्थापत्य, साहित्य में इन समस्याओं से हम परिचित हैं। अकसर तो लगता है कि इन्हीं समस्याओं को सुलझाने में हमारे कला का इतिहास उलझा रहता है। इतिहास-चित्र बनाने की अपनी अलग समस्याएँ हैं पर उधर तो मानो वह बढ़ ही नहीं पाता। जो भी हो, जिस प्रक्रिया की बात कर रहा हूँ वह कला के इतिहास के लिए 'अनिवार्य' सी मानी जाती हैः पहले कलाकृति, फिर कालविचार फिर इतिहास।

राग-संगीत के इतिहास में इस प्रक्रिया की पहल ही नहीं हो सकती। पुरानी कृतियाँ अनुपलब्ध हैं। यों तो संगीत की पुरानी कृतियाँ कहीं भी साक्षात उपलब्ध नहीं होतीं, जैसे कि कुछ और कलाओं की होती है, पर उन्हें स्वरलिपि के आधार पर और दूसरे आनुषंगिक साक्ष्यों के आधार पर काफी कुछ 'खरे' रूप में, जैसे थी वैसी ही, साक्षात् आविर्भूत किया जा सकता है। पश्चिम के संधानी आज इस साधना में बड़े कुशल हैं और लगता है कि कुशलतर होते जा रहे हैं। जैसे यन्त्र पर कृति बजती थी, उसे वैसा का वैसा गढ़ लेना, तत्कालीन तकनीक की बारीकियों में उतरना, और ऐसे ही दूसरे नखशिख, बड़ी परख से साधे जा रहे हैं। फिर पुरानी स्वर-लिपियाँ तो वहाँ हैं ही। उनका भी संग्रह बढ़ता जा रहा है, उनमें प्रवेश और पैठ गहरा रहा है।

राग में इतिहास-संधान की इस बारहखड़ी का पहला अक्षर भी लिखा जाना सम्भव नहीं। स्वरलिपि वहाँ हो नहीं सकती—क्योंकि उसके होने का ही वहाँ कोई खास मानी नहीं। ऐसा नहीं



है कि हमारे यहाँ स्वरलिपि नहीं है। बहुत प्राचीन काल से है। पर राग स्वरलिपि की चीज़ ही नहीं है। प्रयोग की चीज़ है, क्योंकि आलाप प्रधान है—विचार-प्रक्रिया की तरह राग का आलाप प्रयोग में ही प्रकट होता है। जो हो चुका है वह आलाप नहीं होता। राग को गा-बजा ही सकते हैं। आलाप वहीं होता है। आज राग की प्रयोग-लिपि सम्भव है। रेकार्डिंग हो सकती है। बड़ी मात्रा में हो रही है। जब से राग की प्रयोगलिपि उपलब्ध है, तब से राग का इतिहास कुछ उस प्रक्रिया से भी सम्भव है जो कला के इतिहास की स्वीकृत-प्रतिष्ठित प्रक्रिया है। यह बात और है कि इस तरह के इतिहास की भी चेष्टा हमारे यहाँ दिखाई नहीं देती। हमारी संगीत-दृष्टि अभी इतिहास-निष्ठ है ही नहीं। हम आधुनिक चित्रकला के इतिहास लिखते हैं, चित्रकार विशेष, कविविशेष आदि की सृजनयात्रा का भी इतिहास लिखते हैं। संगीत में इस प्रवृत्ति के अंकुर हों भी तो नगण्य से हैं—मुझे तो नहीं दिखे हैं। वैसे भी प्रयोगलिपि का काल हमारी विहंगम दृष्टि के लिए एक बहुत छोटा सा ही काल है। वहाँ तक हम आयेंगे ही नहीं।

सच पूछिये तो राग प्रयोगलिपि में भी पूरी तरह से साक्षात का विषय नहीं होता। मुझे नहीं लगता कि राग का इतिहास और राग के प्रयोग का इतिहास एक ही बात है। यह ठीक है कि एक अर्थ में राग प्रयोग-सार है। पर जिस अर्थ में वह प्रयोगसार है, उस अर्थ में उसकी लिपि सम्भव नहीं है। राग अलाप-सार है और अलाप चरिष्णु होता है—हर प्रयोग में नये सिरे से उसका उन्मेष जागना चाहिए, नहीं तो अनुवृत्ति मात्र होगी, आलाप के बिना राग भी नहीं।

मुझे लगता रहा है कि राग का आलापसार होना इतिहास-दृष्टि के लिए एक उलटबाँसी भी है, एक बिडम्बना भी और एक चुनौती भी। उलटबाँसी यों कि एक गहरे अर्थ में राग का आलाप-में-सदा-चरिष्णु होना उसे नितान्त इतिहास-सार—बल्कि यों कहिये कि इतिहासमय ही बना देता है। हमारे 'करनी' के प्रवाह में ही राग की सत्ता हैः राग का 'वही' होना प्रवाह का 'वही' है। और इतिहास हमारे प्रवाह को ही आँकता है। पर आँकता वह प्रवाह को 'रोक' कर है। उसे अपने लिये एक स्थिर मूर्त रूप देकर आँकता है—नहीं तो आँके भी कैसे? और यह स्थिर मूर्त रूप जहाँ तक दिया जा सकता है प्रवाह के एक खण्ड को ही दिया जा सकता है, वह भी विगत के ही खण्ड को, आगत को नहीं। जब कि प्रवाह में आगत-विगत दोनों युगनद्ध होते हैं। इतिहास की विडम्बना है कि प्रवाह के इस युगनद्ध रूप का धारण नहीं कर सकता। इसे धारणा करने की चेष्टा, यही इतिहास के लिए चुनौती है।

यह बात मनुष्य की प्रवृत्ति मात्र पर लागू होती है—उसकी हर साधना पर; कला पर भी। कई क्षेत्रों में—और कला के कई क्षेत्रों में तो विशेष कर—बड़े सार्थक स्थिर मूर्त रूप भी उपलब्ध हो जाते हैं—पुरानी कृतियाँ बड़ी मात्रा में मिलती हैं। इतिहास-निष्ठ संस्कृति बोध में इनकी गरिमा भी है। पर राग ऐसी कृति नहीं हो सकता। राग में स्थिर कृति हो सकती है। राग स्थिर कृति नहीं हो सकता। राग के एक प्रयोग-विशेष को हम एक कृति-विशेष के रूप में देख सकते हैं—देखते ही हैं। पर वह राग का एक प्रयोग ही होता है और माना जाता है, राग नहीं। क्योंकि राग के और दूसरे बहुत अलग प्रयोग भी हो सकते हैं। उसी 'प्रयोक्ता द्वारा' भी हो सकते है जिसका

प्रयोग-विशेष हमारे सामने हो। एक निगूढ़ अर्थ में यह बात राग पर ही नहीं सृजन के सभी क्षेत्रों पर लागू होती है। जैसे कला। कला, कृतियों में रूप लेती है। पर कला, कृति नहीं होती। किसी भी कृति में निःशेष नहीं हो जाती। कैसी भी 'पूर्णमिदं' सी लगती महत् कृति हो जिसके लिए हम कहें बस यही आखिरी बात है, तो भी हम जानते हैं कि आगे के दरवाजे खुले हैं। 'कला' और 'राग' में गहरा अन्तर है। यह कि कला नितान्त सामान्य पदार्थ है, जब कि 'राग' सामान्य होते हुए भी 'संगीत' से अधिक विशिष्ट है। फिर हर राग का अपना एक विशेष 'रूप' भी होता है—उसकी अपनी एक निर्मिति होती है, स्वर-सम्बन्ध-योजना होती है, चलन होता है। जो उसे निर्धारित 'व्यक्ति'-सत्ता देता है। राग स्वरूप से एक नहीं अनेक है। और ऐसे अनेक में एक-एक का अलग लक्षण स्वाभाविक है। राग में भी होता है—रागों के प्रकार होते हैं, भिन्न रागों में एक दूसरे से कम-ज़्यादा समानता होती है। फिर उनकी निर्मिति और निभाव में केवल उनके व्यक्तिगत स्वरूप-स्वभाव को ही नहीं देखा जाता, अन्य रागों से उन्हें व्यावृत्त भी किया जाता है। यह उनके बनाव का अभिन्न अंग है। इससे उनका विशेष होना और भी अधिक प्रकट है। साथ ही यह भी स्फुट है कि कोई भी राग किसी कृती विशेष की कृति नहीं रह सकता। उसकी एक अपनी सत्ता होती है, जिसका एक सार्वजनीन भाव होता है। कोई भी कृती उसकी पहचान बनाये रखते हुए उसे अपना सा रूप दे सकता है। एक बात और है। ऐसा नहीं है कि नये राग नहीं बन सकते—राग का ज्ञान ही नये राग बनाने का ज्ञान भी होता है। जिस स्वर-योजना विशेष से राग विशेष बनता है, वह एक सामान्य योजना-विधि की कई सम्भावनाओं में एक होती है। कई शास्त्र-ग्रन्थों में तो सम्भावनाओं की गिनती तक गिना दी गई है जो लाखों में जाती है। पर यह गणित भी अधूरा ही रहता है। इस अर्थ में कि योजना के प्रकार विशेष को आधार बनाता है। पर योजना की विधि में भी भेद या बदलाव हो सकता है। होता ही रहा है।

राग-विशेष के इतिहास की समस्या लेता हूँ। एक राग है, प्यारा भी है, गहरा भी। सब उसे गाते सुनते हैं। दरबारी कान्हड़ा। राग पुराना भी है। कृती विशेष की कृति भी है। अकबर के दरबार में तानसेन ने इसे बनाया था। दरबारी, तानसेन की 'कृति' कहलाती ही है। पर तानसेन ने स्वयं उसे कैसे गाया-निभाया, इसका आज के दरबारी से सम्बन्ध विचित्र है। यह चेष्टा भी नहीं की जाती कि तानसेन की तरह उसे गाया जाये। यह बोध रहता है कि दरबारी तानसेन की है और उसकी अपनी एक पहचान है जो तानसेन की दी हुई है—दूसरे कान्हड़ों से अलग है और अपनी विशिष्ट स्वर योजना के कारण उनसे करुण-भव्य-सौम्य है। उसके इस भाव और रूप के पीछे तानसेन की प्रतिभा स्वीकृत है। पर दरबार के हर प्रयोग में अपेक्षा यह रहती है कि संगीतकार दरबारी को अपनी तरह से निभाये। हम अमीरखान की या बड़े गुलाम अली की या पण्डित जसराज...की दरबारी सुनना चाहते हैं, तानसेन की नहीं। इससे राग का रूप भी अकसर बदलता है। पर यह राग की स्वभाव-गति मानी गयी है। संगीत का एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है—***संगीतरत्नाकर*** जिसे शारंगदेव ने १३वीं सदी में लिखा था। १४वीं १५वीं सदी में कल्लिनाथ नाम के एक संगीत पारखी ने उस पर एक प्रसिद्ध टीका लिखी। शारंगदेव के रागाध्याय में कुछ ऐसे रागों का विवरण-लक्षण है जिन्हें वे 'आधुनाप्रसिद्ध' राग कहते हैं। उनके समय के चलते हुए राग थे। उनमें



से दो एक पर टिप्पणी करते हुए कल्लिनाथ बताते हैं कि उनके समय—इन रागों का रूप बदल चुका था। पर कल्लिनाथ के लिए यह कोई खेद की बात नहीं थी। उचित ही था। वे कहते हैं कि राग 'कामचर' से बनता है, इसलिए उसका बदल जाना उसका गुण है—नायं दूषणः भूषण एव। 'कामचार' यहाँ आलाप का ही दूसरा नाम है। राग-व्यष्टि ही नहीं राग-समष्टियाँ भी बदलती रही हैं। १७वीं सदी में गोविन्द नाम के शास्त्रकार लिखते हैं कि उनके समय शारंगदेव के अधुनाप्रसिद्ध सभी राग लुप्त थे। नया राग-समूह आ गया था।

तो राग प्रवाह की वस्तु है। भाषा की तरह। वह व्यक्ति विशेष की प्रतिभा में खिलती है, खुलती है, पर वस्तु परम्परा की होती है। परम्परा उसके प्रवाह का धारण करती है। यहाँ 'धारण' शब्द का प्रयोग मैं विशेष अभिप्राय से कर रहा हूँ। ऊपर मेरी बात में ध्वनित था कि इतिहास इस प्रवाह का ठीक धारण नहीं कर सकता। इतिहास में हम होते नहीं, उसे रचते हैं। वास्तव में नहीं, विचार में रचते हैं। उसकी धारणा बल्कि धारणाएँ बनाते हैं, निदान को जिन का आधार हमारी स्मृति होती है। स्मृति होती ही विगतमुखी है। बात स्वतःस्पष्ट सी है पर इसे हम अकसर भूल भी जाते हैं। इतिहास-बोध हम पर इतना हावी सा रहता है कि हमें लगता है कि हम इतिहास में हैं और इतिहास बना रहे हैं। होते हम परम्परा में है और उसे रचते चलते हैं। परम्परा स्वभाव से ही आगतमुखी होती है।

हम परम्परा में नहीं परम्पराओं के किसी व्यूह में होते हैं, परम्पराओं में भेद और सम्बन्ध साधते चलते हैं। कला ही को लीजिए। चित्र की अपनी परम्परा है, साहित्य की अपनी और संगीत की अपनी। इनमें भेद स्वाभाविक ही नहीं है, उसे हम साधते भी हैं—हम चाहते हैं कि इनमें से हरेक क्षेत्र का अपना एक स्वातन्त्र्य हो। पर साथ ही हम यह भी चाहते है कि कलाओं के मेल भी बनें, इनका संघात भी बने। उनमें कोई परस्पर-भाव हो। वह परस्पर-भाव कैसा हो इसको लेकर मार्ग-भेद हो सकते हैं। एक और गहरे अर्थ में भी हम कलाओं का परस्पर-भाव चाहते और साधते हैं। हम चाहते हैं कि सब कलाओं में एक ही संस्कृति-बोध का भाव झलके। यह कैसा हो, क्या हो, इसको लेकर झगड़े और विवाद हैं। दो गुट तो दिखते हैंः एक चाहता है कि सब कलाएँ 'आधुनिक' की विराट छत्रछाया में एक हों; दूसरा चाहता है कि सब 'भारतीय' हों। और जहाँ ये दो हैं वहाँ एक तीसरा स्वतःस्फूर्त सा ही हैः वह चाहता है कि सब 'आधुनिक भारतीय' हों। झगड़े स्वाभाविक हैं, पर यह भावना भी स्वाभाविक है कि भेद के पीछे कोई समरस-भाव हो।

यो तो इतिहास-बोध की भी परम्परा ही है—और जिस रूप में हम उसे अपनाते हैं, वह बहुत पुरानी भी नहीं है। परम्परा के बिना उसका भी धारण नहीं हो सकता। पर यह परम्परा, परम्पराओं के आकलन की भी परम्परा है। परम्पराओं के विगत में झाँकना, दूसरी परम्पराओं से उनकी तुलना कर उन्हें समझना, उनके व्यूहों को, संघातों को भाँपना और यों संस्कृतियों को अलग अलग करना, फिर उनके विगत अंग-प्रत्यंग को, परिवर्तन के काल-पर्यायों को उभारना, यह इतिहास का काम है। इस अर्थ में इतिहास परम्परा-मुक्त भी होता है। तटस्थ और विशुद्ध द्रष्टा। पर जिस अर्थ में वह परम्परा में 'होता' है, वह भी विगत-मुखी नहीं, आगतमुखी होता

है—चरिष्णु—क्योंकि परम्परा अपने आप में आगत की ओर ही झुकी रहती है। सचमुच होने के प्रवाह में होती है। विगत का एक चित्र भी वह बनाती है, पर परम्परा का विगत बहुत दूर नहीं जाता, जाता भी है तो दूर की कौड़ी ही लाता है। अनुश्रुतियाँ गढ़ता है। या अपने वर्तमान के प्रयोजन के आधार पर विगत को ढाल लेने से नहीं कतराता।

इतिहास कितना ही तटस्थ हो, उसके देखने में ही यह निहित है कि उसका परिप्रेक्ष्य कहाँ से बनता है। मैं अपना परिप्रेक्ष्य राग-परम्परा के भीतर रहता हुआ बनाना चाहता हूँ। जिससे परम्परा की विगत-दृष्टि को विस्तार मिले, साक्ष्य का सहारा मिले, और संस्कृति में उसके स्थान की पहचान गहरी हो। यह परिप्रेक्ष्य एक और कारण से भी दुर्निवार है। मैं समझता हूँ कि आज राग की जीवन्त परम्परा है इसलिए राग का इतिहास सम्भव भी है। उस परम्परा का कुछ भीतर से ज्ञान हुए बिना उसके विगत में झाँकना, उसके विगत को किसी भी अन्तरंग रूप में पकड़ना शायद सम्भव न होगा।

क्योंकि जैसा कह आया हूँ राग की कृतियाँ नहीं मिलतीं। उसका वैसा इतिहास नहीं हो सकता जैसा कला के कुछ और क्षेत्रों में होता रहा है। और जिससे कला के इतिहासमार्ग को ही दिशा मिली है। रूढ़ि कहेगी कि और कोई मार्ग ही नहीं है। कला के साक्ष्य के बिना कला का इतिहास कैसा है? यहाँ एक बात सोचिए। कला का इतिहास कृतियों का जैसा साक्ष्य, उनकी जैसी साक्षात् उपस्थिति चाहता है, क्या यह मार्ग इतिहास बोध मात्र के लिए अनिवार्य है?

हमारा अधिकांश इतिहास हमारे कर्म का इतिहास होता है। कर्म के बाहर इतिहास पिछले दिनों ही ज़्यादा बढ़ा है। हम 'इतिहास' शब्द का अनायास, जो अर्थ लेते हैं वह है: 'मनुष्य' के कर्म के विगत का चित्र। यों तो कह सकते हैं कि कर्म भी 'कृति' का ही रूप लेता है—घटनाओं में, संस्थाओं में । इन्हीं के आधार पर हम इतिहास आँकते हैं। पर यहाँ यह अपेक्षा कतई नहीं करते कि कृति हमारे सामने हो। सामने हो भी तो क्या उसकी पकड़ में पैठ बढ़ेगी? शायद उलझन ही बढ़े और कृति का जो रूप हम मापना चाहते हैं, वहीं आँखों में न समा पाये। हम कर्म का अन्तरंग आँकते हैं। आशा, अपेक्षा, प्रयत्न, साधना, संकल्प, अभिप्राय, अभि-सन्धि....हमें इन्हें आँकते हैं। इनके फल, परिणाम, प्रभाव या निष्फलताएँ, ये जिन रूपों में सिद्ध होती हैं, उनके भी अन्तर्सूत्र को ही हम पकड़ना चाहते हैं। कर्म का इतिहास मनुष्य के प्रवृत्ति-प्रवाह का इतिहास होता है—उसकी कर्म-चेतना का इतिहास, उसके कर्म के बहिरंग का नहीं, जिसका साक्षात् हो सकता है।

ऐसा इतिहास हम राग-संगीत का भी उभार सकते हैं। राग-चेतना का इतिहास। लिखित साक्ष्यों की एक लम्बी श्रृंखला काफी कुछ काल-क्रम में सजी हुई उपलब्ध है जिसे हम आधार बना सकते हैं। कृतियों की कमी खटकेगी। कर्म की कृति और कला की कृति में यह बड़ा भेद है कि कला का अन्तरंग उसके इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भी अपेक्षा रखता है। विगत के राग-संगीत में यह सम्भव नहीं, फिर भी मैं समझता हूँ कि एक सार्थक इतिहास-दृष्टि सम्भव है। उसी को आगे रूप देता हूँ। संक्षेप में कहूँगा और विहंगम दृष्टि रखूँगा: मूल प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं को ही उभारूँगा। परिवर्तन के प्रधान पड़ावों और मोड़ों की ओर ही देखूँगा। ग्रन्थों के विवरण, उद्‌रधण, सन्दर्भ, इनका ब्यौरा, इससे कतराऊँगा। इन्हें ऊह्य मान कर चलूँगा। शास्त्र के साक्ष्य को कैसे समझा



जाये, उसे साक्ष्य माना भी जा सकता है या नहीं, माना जा सकता है तो किस रूप में, यह भी एक टेढ़ी समस्या है। इस पर भी यहाँ विचार नहीं करूँगा। इस पर कुछ विचार मैंने अपने एक लम्बे लेख में किया: 'शारंगदेव का ***संगीतरत्नाकर***: राग के इतिहास का एक प्रमुख पड़ाव।' लेख संगीत नाटक अकादमी की पुस्तक शारंगदेव एण्ड हिज ***सङ्गीतरत्नाकर*** के नाम से १९९९ में छपी है, सम्पादक प्रेमलता शर्मा। जिज्ञासु पाठक चाहें तो देख सकते हैं। यहाँ तो मैं यह मान कर चलूँगा कि आप मुझे कुछ 'आप्त' समझते हैं—भरोसे के आदमी —जो साक्ष्य दे रहा हूँ, वह अतथ्य नहीं है। यह भी मान कर चलूँगा कि जो चित्र मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ उसे आप एक सम्भाव्य चित्र ही समझेंगे। और भी चित्र हो सकते हैं। पर इस चित्र से राजपरम्परा के क्षितिज में विस्तार की सम्भावना भी कुछ साक्षात हो तो प्रयास सफल समझूँगा।

राग-परम्परा में रहते हुए अक्सर यह भान होता है कि परम्परा चिरन्तन है और चिरन्तन काल से वैसी ही चली आयी है जैसी आज है। परम्परा ही इस भाव का पोषण करती है। यह हमारी परम्परा का स्वभाव है—और संगीत में ही नहीं अन्यत्र भी है—कि वह नये को नया नहीं कहना चाहती। पुराने अनुवृत्ति या उसी का स्वतःसिद्ध सा परिणाम ही ठहराना चाहती है। पर यह एक मुद्रा है। इसके पीछे झाँकिए। नये की, जीर्ण-प्राचीन के विपरीत आधुनिक की, व्यष्टि-प्रतिभा की, उसके नवोन्मेष की, इन सब की ललक हर कहीं बिखरी मिल जायेंगी। वही गवैया जो कहता है कि वह घराने का, गुरु का ही गाना गाता है, वही यह दावा भी करता है कि उसमें कुछ नयी बात है। सुनने वाला भी उसका अपना गाना ही सुनना चाहता है,पुराना नहीं। पर साथ ही दोनों यह भी कहेंगे कि 'नया कुछ नहीं' का हम इस कहने के धोखे में आ भी जाते हैं। इतिहासकार भी आते रहे हैं पर उनको आना नहीं चाहिए। जो सामने है उसके पीछे देखना उनका काम है। चिरन्तनता का हमारा सम्बन्ध वेदों से है। तभी राग-परम्परा में हम ऐसी भी बात सुनते हैं कि राग ऋषि-मुनियों में बनाये। पर वेद के समय राग-संगीत नहीं था। बहुत पीछे आया। हाँ, यह पुरानी धारणा है, पुराने शास्त्रग्रन्थों में बार बार आई है कि रागों का उद्‌भव परम्परा-सम्बन्ध से वैदिक संगीत से हुआ है। सामगान से।

जब एक लम्बी परम्परा बात पर ज़ोर दे रही हो तो बात को टाल देना ठीक नहीं लगता। पर परम्परा सामगान से राग का कोई स्फुट, समीचीन रूप-सम्बन्ध नहीं उभारती। जो थोड़े बहुत उखड़े से इंगित देती भी है उनसे जन्य-जनक सम्बन्ध का कोई अन्तर्सूत्र हाथ नहीं आता। उलटे साम और राग, ये दोनों विधाएँ बहुत परस्पर भिन्न ही दिखायी देती है। नारदीय शिक्षा और साम ये जो अन्य लक्षण-विवरण पाये जाते हैं उनसे यही उपपन्न होता दिखता है कि साम और राग में गहरा वैषम्य था। साम की लक्षण-पदावली राग की पदावली से अलग है—स्वरों के नाम तक भिन्न हैं। यहाँ तक कि उनके क्रम-बोध में भी एक विचित्र सा वैपरीत्य है: साम में स्वरों को अवरोही क्रम से गिना जाता था, जब कि राग में आरोही क्रम से। ये अन्तर अपने आप में साम्यहीनता के प्रमाण नहीं भी हो सकते हैं। पर हम देखेंगे कि साम और राग की रूप-कल्पना में ही एक मूल्यगत भेद है जो दोनों को परस्पर-विषम दिखायी देता है।

साम बंधा-हुआ रूप था। राग की तरह खुला नहीं। उसमें 'कामचार' सर्वथा वर्जित था, जो अलाप का प्राण है। साम मंत्र था। ऋक् या यजुष् मन्त्रों की वर्णानुक्रमी नियत मानी जाती है, किस अक्षर

के बाद के कौन सो आयेगा, यह तय रहता है। माना कि वहाँ शाखाभेद के साथ पाठभेद दिखायी देता है। पर यह पाठभेद 'पौरूषेय' या मनुष्य की इच्छा-द्वारा-कृत नहीं माना जाता। इसलिये इसे सचमुच पाठभेद नहीं माना जाता। क्यों होता है? यह चुभता हुआ प्रश्न है, पर यहाँ इस विचार को उठाकर प्रसंग-भेद नहीं करूँगा। हम देखते हैं कि पौरुषेय कृतियों में भी वर्णानुक्रमी के नियत होने का आदर्श पाया जाता है। जैसे कालिदास या माघ या भारवि या ऐसे ही किसी अन्य कवि की रचना में पाठभेद वहाँ भी हो जाता है। उसे अनवधान-जन्य माना जाता है या आकस्मिक। कविकृत किसी मूल पाठ को ही शुद्ध माना जाता है। उसी का हमें संधान रहता है। अपौरुषेय कृतियों में वर्णानुक्रमी का नियत होना और भी आधारगत तत्त्व है।

साम भी मंत्र था। उसकी स्वरानुक्रमी नियत थी। किस स्वर के बाद कौन सा आयेगा कितनी देर के लिए आयेगा, यह बँधा हुआ था। जैसे 'धुन' में होता है। यह प्रक्रिया आलाप के नितान्त वर्जन की है। जब कि राग का मर्म आलाप है। यों स्वरूप-स्वभाव में साम का तत्त्व ही राग से बिलकुल भिन्न था। साथ ही परम्परा में स्वरानुक्रम को बनाये रखने की पूरी चेष्टा भी रही है। पहले एक 'अलिखित' स्वर लिपि का उदय हुआ। उँगलियों पर स्वर रखे जाते थे, जिसे हस्त-वीणा का नाम दिया गया था। बाद में साम के लिखित रूप से प्रचलन के साथ स्वरलिपि के कई संकेत-प्रकार उभरे। इन सबके होते हुए भी साम कहाँ तक अविकृत रह सका है? यह प्रश्न और है। स्वरानुक्रमी को अविकृत रखना वर्णानुक्रमी को अविकृत रखने से कहीं अधिक कठिन होता है। साम आज तक आते-आते बहुत बदल गया है, पर आदर्श या संकल्प कभी बदलाव नहीं रहा है। जैसा कि राग का है।

एक बात पर यहाँ लक्ष्य को केन्द्रित कीजिए । साम को मैंने अपौरुषेय कहा और उसके स्वर की अनुक्रमी के नियत होने की बात की। ऋक्, यजुष् की तरह उसे 'मंत्र' भी कहा। यह बात गहरा अवधान चाहती है। हम इसे जानते भी हैं तो मानों अवज्ञा में जानते हैं। अनदेखी करते हुए देखते हैं। साम अगर मंत्र है, और स्वरों में मंत्र है तो यह छोटी-मोटी बात नहीं है। मंत्र में ज्ञान के परम तत्त्व का आविर्भाव होता है—मनुष्य की सीमित बुद्धि के बाहर से आये—ऊपर से उतरे—ऐसे सत्य का प्रकाश है, जो, हमारे संकीर्ण संशय-दिग्ध सत्यों के तरह आविल नहीं होता। इसलिए मन्त्र 'दृष्ट' होता है 'कृत' नहीं। वह 'होता' है, 'बनाया' नहीं जाता। इसलिए अगर एक बार दृष्टि हो जाये तो उसे वैसा का वैसा बनाये रखने का हम परम उद्योग करते हैं। ऐसा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। सम्यक् अनुवृत्ति के उपाय-कौशल साधते हैं, परम्पराएँ बनाते हैं। धार्मिक परम्पराओं में अपने दृष्टि ग्रन्थों की— चाहे वे ईश्वर-प्रोक्त हो या वेद की तरह अपौरुषेय-इनको शुद्ध बनाये रखने की निरन्तर चेष्टा चलती है। धार्मिक परम्परा की पहचान ही उसके 'दृष्टि' या 'आर्ष' या 'दिव्य' ग्रन्थ या ग्रन्थ-संभार से होती है। किसी रूप में ये सभी मंत्रों की कोटि के होते हैं।

पर मन्त्र भाषा में ही होता है क्योंकि ज्ञान का और सत्य का अवतार होता है। सत्य भाषा में ही व्यक्त किया जा सकता है। ऐसा हमारा विश्वास है। हमारा यह भी विश्वास है—अकसर अनकहा ही सही—कि उसका और कोई वाहन हो भी नहीं सकता। सत्य उतरे तो भाषा ही में उतर सकता है। पर साम भी 'मन्त्र' है। लेकिन वह स्वर में है, भाषा में नहीं। यह विलक्षण मंत्र है। अपने आपमें



अनूठा। इसमें वैदिकों के लिये संगीत की विशेष महिमा का स्पष्ट इंगित है। जैसे ऋक् मंत्रों के ऋषि-द्रष्टाओं के नाम ऋग्वेद में संगृहीत है, वैसे ही साम-मन्त्रों के द्रष्टाओं के नाम सामवेद में आते हैं। ये स्वर के द्रष्टा थे, शब्द के नहीं।

साम को गाया ऋक् पर ही जाता था। विशेषकर यज्ञ में। इसलिए वैदिक परम्परा की जिसे मुख्यधारा कह सकते हैं। वह साम को ऋक् के अंग के रूप में देखने की चेष्टा करती रही है। उसकी स्वतन्त्रता को अमान्य करती रही है। मीमांसक कहता है—'गीतिषु सामाख्या' और यों साम के गेयरूप को ही साम मानता है, और यों लगता है कि ऋक् के जिन शब्दों पर उसे गाया जाता था, उससे स्वतन्त्र मानता है, उसकी अपनी अलग सत्ता स्वीकार करता है। फिर भी उसे ऋक् का 'संस्कार' 'परिमार्जन' परिष्कार-संस्कार-का भी एक विशेष विधि-विधान हो सकता है, जो पूजा के ही कर्मकाण्ड का अंग हो। पर यह गौण कर्म होगा। प्रधान तो पात्र और उस पात्र और उस पात्र का विनियोग ही होगा। इसी तरह साम से ऋक् का संस्कार माना जाता है। ऋक् ही प्रधान है, साम गौण। वैदिक परम्परा का एक मुख्य भाग यही मानता रहा है।

साम के प्रति जो वैदिक मानस था उसका यही पक्ष हमारे सामने भी अधिक आता है। पर वैदिक मानस अपने आप में बहुमुखी था। वैसे ही जैसे किसी भी समृदध, जटिल, बहूसूत्र युग का मानस होता है। अपने ही युग का मानस होता है। अपने ही युग की ओर देख लीजिए। हम वैदिक मानस के भीतर पैठ कर देखें तो साम बोध के दूसरे पक्ष उभरते हैं, और चौंका देते हैं। हम पाते हैं कि साम कि ऐसी भी परिनिष्ठत, आत्मचेतन, मुखर, परम्परा थी जहाँ साम सचमुच स्वतन्त्र था। ऋक् के बन्धन से विच्छिन्न। अपने आप में 'सत्य' की अभिव्यक्ति की बात चित्रित भी नहीं है। जैसा कि हमने अभी देखा, साम की स्वतंत्र सत्ता का स्वीकार वैदिक परम्परा के मूल में ही निहित है। साम के अलग द्रष्टा हैं, उसका अलग वेद है। उसके ज्ञाता-प्रयोक्ता भी अलग होते थे। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् की उसकी अलग धारा भी थी।

इस धारा में साम का जो चित्र उभरता है, यहाँ लक्षणीय है। हम यहाँ साम के रूप में संगीत की सत्ता को स्वयंप्रतिष्ठ पाते हैं। मैं नहीं समझता कि संगीत की ऐसी प्रतिष्ठा का इससे प्राचीन और कहीं कोई दृष्टान्त मिलता है जहाँ संगीत जैसी, (आज के शब्दों में) 'अमूर्त' कहलाने वाली, कला को ऐसी स्वतन्त्र महिमा दी गयी हो। आज का 'अमूर्त' शब्द मुझे उपयुक्त नहीं लगता, 'ऐब्स्ट्रक्ट' का अनुवाद है, पर आशय को ठीक नहीं पकड़ता। संगीत मूर्त्त ही होता है, चक्षुग्राह्य न सही श्रोत्रग्राह्य होता है। 'अमूर्त' से अभिप्राय यहाँ अपने ही माध्यम में, अपने ही रूप-विधान में स्वतन्त्र होना है। इसी आधार पर कुछ चित्रों को, स्थापत्य को, विशेष मूर्तियों को आज 'अमूर्त' कहा जाता है। होते ये सब मूर्त ही हैं, चक्षुग्राह्य रूप साधते हैं। इन्हें 'स्वयंप्रतिष्ठ' कहना अधिक उपयुक्त लगता है। शब्द भी 'अमूर्त' से पुराना और प्रतिष्ठित है। अभिनव गुप्त ने इसका प्रयोग किया है और उसी अभिप्राय और अवमर्श से किया है जिससे आज 'एब्सट्रेक्ट' और उसके अनुवाद 'अमूर्त' का प्रयोग होता है। जो भी हो, साम की परम्परा में बोध की यह दिशा—जिसे हम सर्वथा 'आधुनिक' समझते हैं—चमत्कृत कर देती है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से दो एक कहानियाँ आपके सामने रखता हूँ। यह उपनिषद्-ब्राह्मण जैमिनीय ब्राह्मण के अन्तर्गत है, जो साम परम्परा का एक प्राचीन ग्रन्थ है। वैदिक ग्रन्थों की तिथि-निर्णय की समस्या ग्रन्थिल

है, पर ग्रन्थ को हम ईस्वीपूर्व की दसवीं या नौवीं सदी में रखें तो बहुत उँगलियाँ नहीं उठेंगी। यह ब्राह्मण ग्रन्थ सामगायकों के यज्ञकर्म से सम्बन्ध रखता है, और उसका उपनिषद्-ब्राह्मण साम के मर्म से—उसके निगूढ़ स्वरूप, तत्त्व और रहस्य से सम्बद्ध है।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में साम को ही देवताओं का रूप देखा गया है और इसलिए उनकी उपासना और साक्षात् उपलब्धि का वह माध्यम भी है। यह उपनिषद् ब्राह्मण 'अनृक' या ऋक्-हीन—ऋक् से स्वतन्त्र—साम की बात करता है। 'अशरीर' साम की बात करता है— जहाँ ऐसे साम की बात और संकेत है जो किन्हीं ही शब्दों पर नहीं गाया जाता था— 'अशरीर' में आज के 'अमूर्त' की ध्वनि लक्षणीय है। एक कथा सुनिए। देवताओं और असुरों के संग्राम में असुर जीत जीत जाते थे। मारे जाने पर भी जी उठते थे, अमर थे। देवता प्रजापति के पास गये। बोले, यह क्या बात है, हम आपके हैं, हमें अमर कीजिए। ब्रह्मा ने कहा साम गाओ, अमर हो जाओगे। देवताओं ने साम गाया, पर वहीं के वहीं रहे। फिर प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने कहा तुम सही साम नहीं गाते हो। ऋक् के साथ गाते हो। ऋक् का बोझ साम को ऊपर के लोक में नहीं जाने देता, जो मृत्यु से परे है। तुम अनृक् साम गाओ। साम से ऋक् को हटाकर गाओ। देवताओं ने अनृक् साम गाया और अमर हो गये।

साम के स्वतन्त्र रूप की और उस स्वतन्त्र रूप में ही उसका 'सत्य' होने की इससे स्पष्ट अभिव्यक्ति किसी और प्राचीन साहित्य में शायद ही मिलेगी। एक कथा और। कौरवों का राजा था उच्चैःश्रवा कौपयेय। उसका मौसेरा भाई केशी दार्भ्य, पाञ्चालों का राजा था। दोनों एक दूसरे के बड़े प्रिय थे। उच्चैःश्रवा की मृत्यु हो गई—वह इस लोक से प्रयाण कर गया। अपना दुःख भुलाने के लिए केशी दार्भ्य आखेट करता हुआ अरण्य में घूमने लगा। वहाँ उसने अपने प्रिय कोपयेय को देखा। दोनों में बातचीत हुई। केशी ने चाहा कि अपने मित्र से गले मिले। पर आकाश ही हाथ आया। बोला तुम्हें देख तो पाता हूँ, गले क्यों नहीं मिल पाता? कौपयेय ने कहा एक साम के विद्वान् ब्राह्मण ने अशरीर साम से मेरे शरीर को धुन डाला है। प्रजापति का पतङ्ग् नाम का प्रिय पुत्र था। उसे प्रजापति ने यह साम सिखाया था। उसने ऋषियों के लिए गाया। तभी ऋषि धूत शरीर हैं। केशी ने कुरु और पाञ्चाल के ब्राह्मणों में बहुत पुछवाया, कोई यह साम जानता है क्या? कोई नहीं मिला। फिर उसे श्मशान में एक ब्राह्मण मिला, प्रातृद भाल्ल। भाल्ल अशरीर साम जानता था। कुरु-पाञ्चाल के दूसरे ब्राह्मणों को बड़ी ईर्ष्या हुई। बोले हम कुलीन हैं, हमारे होते दूसरा किसका काम का? केशी ने कहा कि मेरे काम यही है। उसने वह साम गवाया (और अशरीर हुआ)।

इन कहानियों में यह भी ध्वनि है कि अनृक और अशरीर साम में अन्तर भी था। क्या अन्तर था इसका विवरण नहीं मिलता। श्मशान की और अकुलीन या कुल-बाहर होने की बात से यह भी लगता है कि अशरीर का सम्बन्ध तन्त्र के वामाचार जैसी किसी गोपन परम्परा से हो सकता है। जो भी हो, अनृक् और अशरीर, दोनों में संगीत के विशुद्ध, स्वयंप्रतिष्ठ रूप की और उसके अपने परम वैभव की धारणा प्रकट है।

क्या अनृक् और अशरीर-साम रूप-विधान में दूसरे सामों से पृथक् थे? अनृक् में तो ऐसा नहीं लगता—वहाँ केवल साम से ऋक् के बोलों को हटा देने की बात है। पर अशरीर ? वह



अनृक से भिन्न लगता है, उससे कहीं रहस्यमय भी। कल्पनाओं की ललक सी जगाता है। यह जिज्ञासा जगाता है, क्या अशरीर में राग की कोई छाया थी? हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं। पर उसे किसी भी स्पष्ट साक्ष्य में कोई सहारा नहीं दे सकते। कोई स्फुट सम्बन्ध नहीं बैठा सकते।

राग का स्फुट सम्बन्ध जातिगान से है। साम से तो कोई अस्फुट सम्बन्ध भी सही सही बैठता नहीं लगता। जातिगान का सम्बन्ध भी संगीत के एक स्वतन्त्र रूप से है जिसका प्राचीन नाम था। 'गान्धर्व'। गान्धर्व शब्द 'संगीत' का पर्याय भी हो सकता है। पर प्राचीनकाल में संगीत के विशेष रूपों का एक व्यूह भी था यहाँ 'गान्धर्व' से अभिप्राय इसी रूप-सम्भार विशेष से है। गान्धर्व की विशेष रूपों का एक व्यूह भी था। यहाँ गान्धर्व से अभिप्राय इसी रूप-सम्भार विशेष से है। गान्धर्व की रूप-कल्पना साम से सर्वथा भिन्न दिशा लेती दिखती है और राग की ओर स्पष्ट मुड़ती है। गान्धर्व के दो प्राचीन शास्त्र उपलब्ध हैं जो प्रौढ़ और व्यवस्थित लक्षण ग्रन्थ हैं। एक है दत्तिलम्। दूसरा नाट्यशास्त्र के गेयाधिकार में अन्तर्भुक्त है। गान्धर्व के विलक्षण स्वरूप पर और इन दोनों लक्षण-ग्रन्थों और उनके सम्बन्ध पर मैंने बहुत विस्तार से एक ग्रन्थ लिखा है—ए स्टडी ऑफ दत्तिलम्। यहाँ चुन उन्हीं बातों को लूँगा जो राग के इतिहास में काम की लगती हैं।

गान्धर्व का काल? साम के विषय में हमने देखा कि स्वयंप्रतिष्ठ साम के सम्प्रदाय ईस्वीपूर्व दसवीं-नौवीं सदी में उभर चुके थे। आगे की कुछ सदियों से हम साम का कोई अलग इतिहास आँक सकें, इसका आधार नहीं मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् साम परम्परा का ही है। 'वहाँ' भी समोपासना और साम के विराट् अध्यात्म रूप के रहस्य की चर्चा है। ग्रन्थ जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण के बाद का है। दोनों में दो तीन सदियों का अन्तर तो है ही। दोनों ग्रन्थ एक ही मनीषा के हैं, दोनों में जो भेद है, वह साम के इतिहास में परिवर्त्तन का कोई नया पड़ाव बताता नहीं दीखता। अनृक् और अशरीर में कोई नया मोड़ आया हो तो इसका संकेत नहीं मिलता। संगीत में नया मोड़—और मोड़ ही नहीं, एक आमूल क्रान्ति, गान्धर्व में ही उभरती है। गान्धर्व के शास्त्र ग्रन्थ इस्वी सन् के प्रारम्भ में रखे जाते हैं। नाट्यशास्त्र तो रखा ही जाता है। पर यह तिथिकरण की रूढ़ि जैसी ही है, कोई समीचीन निर्णय नहीं, जिसे सचमुच साधार कहा जा सके। गान्धर्व काल के प्रश्न पर आगे फिर से आऊँगा।

नाट्यशास्त्र से प्रकट है कि उसमें आये कई लक्षण-शास्त्र नाट्यशास्त्र से पहले के विवेचित-व्यवस्थित शास्त्र हैं। नाट्यशास्त्र ने उनका समावेश अपनी अलग नाट्यदृष्टि और उस पर आधारित विमर्श-दृष्टि से किया है। साफ उभरता है कि ये शास्त्र उसे धरोहर में मिले थे। कुछ ऐसे शास्त्र हैं जैसे अलङ्कार या नृत्य (तण्डु का ताण्डव-लक्षण) जहाँ नाट्यशास्त्र से पुराना कोई सूत्र या कारिका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। इससे धोखा भी नहीं हो सकता। उसका एक स्वतन्त्र कारिका-ग्रन्थ उपलब्ध है: दत्तिलम्। दत्तिलम् सचमुच स्वतन्त्र है। उस पर नाट्यशास्त्र की छाया का प्रभाव में ही दिखता है। इससे उपपन्न यही होता जान पड़ता है कि वह नाट्यशास्त्र से पुराना है—क्योंकि बाद में नाट्यशास्त्र का प्रभाव बड़ा व्यापक हो गया था। दत्तिल ने अपने से पहले के आचार्यों के नाम लिए हैं, उनके मत दिये हैं। पर शास्त्र-परम्परा कितने पीछे तक जाती है इसका कोई 'ठोस' इंगित ढूँढे नहीं मिलता।

पर एक सम्बन्ध है जो संकेतमय है। गान्धर्व का सम्बन्ध शैव सम्प्रदायों से है। किसी विशेष शैव-सम्प्रदाय से भी हो सकता है। पर शैवोन्मुखता के चिह्न स्पष्ट हैं। ये चिह्न और भी स्पष्ट रूप से एक और ततकालीन कलाशास्त्र में मिलते हैं—तण्डु के ताण्डव-लक्षण या नृत्यशास्त्र में। ताण्डव गान्धर्व का समकालीन ही नहीं था, एक तात्त्विक धर्म में उसका सधर्मी भी था। जिस तत्त्व या धर्म की ओर मेरी आँख है, उसकी अभी आगे चर्चा करूँगा। ताण्डव और गान्धर्व के और भी साथ थे—ताण्डव के साथ का संगीत गान्धर्व होता था। कम से कम कुछ विशेष सन्दर्भों में, जैसे नाट्य के पूर्वरंग में।

गान्धर्व और दोनों के आकलन से यह भी मुखर होता है कि इनका सम्बन्ध संस्कृति की एक नयी धारा से है। एक प्रवृत्ति-भेद का यहाँ प्रकट स्पन्द है। इस धारा का वेद से सम्बन्ध है भी और नहीं भी है। गान्धर्व अपने आप को साम से उद्‌भूत कहता है, पर हमारी आँखों को भेद ही भेद गोचर होते हैं। एक का यहाँ चलते-चलते नाम लूँगा, जो वैसे अपेक्षया ऊपर का सा ही भेद है—गहरे भेद की बात आगे। साम केवल गान की विधा थी। उसके साथ बजता कुछ नहीं था। उसे भी बजाया नहीं जाता था गाया ही जाता था। गान्धर्व में दोनों थे। गान्धर्व के साथ वाद्य की संगति भी हो सकती थी, और उसे अलग शुष्क भी बजाया जा सकता था। 'शुष्क' का यह प्रयोग गान्धर्व में पारिभाषिक है जहाँ गाना न हो, केवल वाद्य-संगीत हो। और भी बड़ी बात यह थी कि गान्धर्व में ताल का समावेश था। बिलकुल नयी बात थी। हम कह सकते हैं कि ताल का आधार छन्द है, और छन्द तो साम में भी था ही। वेदों में छन्द की बड़ी महिमा भी है, जो साम में अपने शिखर पर पहुँचती है। एक अर्थ में स्वाभाविक भी है। भाषा के बारे में हम कल्पना कर सकते हैं कि छन्द न हो, या ऐसा डूबा हुआ हो कि नहीं जैसा हो। संगीत में यह कल्पना कर सकते हैं कि छन्द कलामात्र में होता है—या यों कहिए कि कला में तो होता ही है, चाहे मनुष्य की किन्हीं और प्रवृत्तियों में नहीं होता हो, जैसे विचार में। छन्द को काल के साथ सहज ही जोड़ते हैं। पर छन्द उन्हीं कलाओं में नहीं होता जो कालपरक हैं: संगीत नृत्य, काव्य के अधिकतर रूप...। छन्द उन कलाओं में भी होता है जो देशपरक हैं—चित्र, मूर्तिकला, स्थापत्य। इनमें भी छन्द की बात पुरानी है।

पर ताल छन्द से भिन्न है। लग सकता है कि ताल का तो छन्द से युगनद्‌ध अविनाभाव का सम्बन्ध है क्या उसे छन्द से अलग भी कहा जा सकता है? सवाल सच है, पर यह भी सच है कि छन्द जब ताल का रूप लेता है तब उसमें एक और रूप और व्यंजना आ जाती है। उसकी एक स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है; और एक स्वतन्त्र व्यवस्था। वह अब संगीत का 'साथ' देता है, संगीत में ही समोया हुआ नहीं रहता। यही नहीं संगीत को भी अब उसका साथ देना पड़ता है—उसमें ढलना पड़ता है। यह हमारे अनुभव में ही स्पष्ट है। और पश्चिम में भी देख लीजिए। वहाँ के 'क्लासिकल' कहलाने वाले संगीत में छन्द स्वर-निष्ठ ही रहता है—जैसे साम में। पर जैज़ में ताल की अलग पहचान है। दूसरे कारणों में यह एक बड़ा कारण है कि जैज़ की 'क्लासिकल' से अलग पहचान है।

गान्धर्व में ताल आज के परिचित ताल से भिन्न था। उसकी गति बहुत कुछ अलग थी। आज के



ताल की तरह वह निरन्तर आवृत्तिमय गति नहीं थी। पर उसकी अपनी अलग उपस्थिति प्रकट थी। गान्धर्व में संगीत के स्वर-स्वरूप को 'मेय' कहा गया है—जिसे मापा या नापा जाये, परिमाण की 'उचित' परिधि दी जाये। ताल परिमिति का साधन था। यह भी कहा गया है कि इस परिमाण-साधना बिना गान्धर्व की 'सिद्‌धि' नहीं होती। इस बात में गान्धर्व साम का सधर्मी था कि रूप में भिन्न होते हुए भी साम की तरह स्वयंप्रतिष्ठ था। अभिनव गुप्त ने 'स्वयंप्रतिष्ठ' शब्द का प्रयोग गान्धर्व (और ताण्डव) के सन्दर्भ में ही किया है। वह साम की तरह विशुद्‌ध संगीत का रूप था। गान्धर्व का एक प्रसिद्‌ध लक्षण है (जिसे अपने शब्दों में कहता हूँ) : स्वर की वह योजना जो ताल से परिमित हो और जिसे पदों में गाया जाये। पद को वहाँ नितान्त गौण माना जाता था। उसे हटाया भी जा सकता था, जैसे 'शुष्क' वादन में जिसकी हमने अभी चर्चा की। फिर इस गान्धर्व लक्षण या परिभाषा के 'पद' को 'सार्थक शब्द' का पर्याय भी ठीक-ठीक नहीं समझना चाहिए। जो गेय पद उपलब्ध हैं उनमें निरर्थक ही अधिक हैं। 'पद' का संकेत यहाँ काफी कुछ आज के 'नोम तोम' जैसे आलाप में गाये जाने वाले वर्ण-समूह से है।

साम की तरह ही गान्धर्व के साथ एक आर्षभावना का भी सम्बन्ध था। साम की तरह वह अलौकिक संगीत था। ईश्वर-प्रदत्त, दिव्यत्व-स्पृष्ट। उससे शिव की प्राप्ति सम्भव थी। पर साम के आर्षभाव के साथ जैसा 'मन्त्रबोध' जुड़ा हुआ था—स्वरयोजना का स्वरानुक्रमी में नियत होना—उसका यहाँ अभाव था। अभाव ही नहीं था, बल्कि स्वर-योजना के तत्त्व की दिशा ही यहाँ दूसरी थी। प्रतीप थी। साम से विपरीतमुखी। आलाप की ओर झुकी हुयी। गान्धर्व में 'आलाप' शब्द का प्रयोग नहीं है, यह और भी परवर्ती राग-धारणा का अंग है, पर आलाप का आधार, उसकी 'धरती' यहाँ उज्जवल आत्मबोध के साथ उभरती है। गान्धर्व के स्वर-रूपों का नाम था 'जाति'। १८ जातियाँ थीं। संख्या नियत थी। सात जातियाँ 'शुद्‌ध' कहलाती थीं—ये स्वरों के नाम पर आधारित थीं: षाड्‌जी, आर्षभी, गान्धारी...। स्वरों के नाम षड्‌ज, ऋषभ आदि, जो आज प्रयोग में हैं गान्धर्व से आये हैं। साम में स्वरों के नाम दूसरे थे। सात जातियों में कुछ हेरफेर करने में 'विकृत' जातियाँ बनती थीं इनके रूप और इनकी संख्या निर्दिष्ट थी। इनकी गिनती सात शुद्‌ध-शुद्‌ध जातियों से अलग नहीं की जाती थी। बाकी ग्यारह जातियाँ 'संसर्गज' थीं—ये भिन्न जातियों के विकृत रूपों के पूर्व-निर्धारित सङ्‌कर से बनती थीं।

यों जातियों का एक सीमित, निर्दिष्ट वलय था। इस परिधि के भीतर आने वाला सम्भार ही गान्धर्व था, और यही साम की तरह अलौलिक था। पर अपनी निर्मिति के विधान में यह सामधर्मी नहीं था। उसी तरह ही बँधा होता तो इसके रूप का विवरण भी वैसा ही हो सकता था जैसा साम का—उसे किसी तरह की लिपि में बाँधा जा सकता था। साम परम्परा मे इसका आदर्श उपलब्ध ही था। गान्धर्वशास्त्र अनायास उस आदर्श को अपना सकता था। यही स्वाभाविक और ऋजु भी ठहरता है कि आगे की परम्परा पिछली का सहारा ले। पर गान्धर्व में जाति लक्षण की गति ही अनूठी है। आज हम उससे परिचित हैं, क्योंकि राग लक्षण की भी वैसी ही, उसी से प्रभावित गति है। पर देखना हमें उसे साम के परिप्रेक्ष्य में चाहिए, जिस साम को गान्धर्व अपना 'जनक' भी मानता था। पर यहाँ पर जन्य का जनक से भिन्न स्वभाव देखिए।

जातिलक्षण में जातियों का स्वरूपचित्र आँकने की कोई चेष्टा नहीं है जैसी कि स्वरलिपि में होती है। जाति-लक्षण एक विधि-नियमों का व्यूह है, जैसे विधि-नियम खेलों के होते हैं जैसे शतरंज के। यों जाति-लक्षण जातियों के बनाने के नुस्खे हैं। लक्षण शब्द आमतौर पर विवरण-वर्णन के अर्थ में आता है: जो बना हुआ है, पूर्वसिद्ध या पूर्वदत्त है, उसके रूप को पकड़ लेने की भाषा—या परिभाषा। जातियों के सन्दर्भ में 'लक्षण' का दूसरा ही अर्थ है, क्योंकि लक्ष्य कोई सिद्ध वस्तु नहीं है, साध्य वस्तु है। यहाँ लक्षण एक तरह का व्याकरण है, साधारण अर्थ में लक्षण नहीं। बड़ा सीधा सरल सा व्याकरण है—'जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।' उस व्याकरण में उतरने के लिए एक ऐसी बात पर आता हूँ जिससे हमारा पुराना परिचय है, पर जो अपने उन्मेष में विलक्षण थी। सब जानते हैं कि राग-संगीत में सप्तक के सात स्वर-स्थान सा रे ग म... ही नहीं होते इन्हीं स्वरों का एक और भी गुणधर्म है, ये वादी, संवादी...भी होते हैं। दोनों में एक गहरा तत्त्वान्तर है जो विश्लेषण चाहता है। सारेगम, ये हमें दिये हुए होते हैं, इन्हें हम बनाते नहीं। वादी संवादी अनुवादी विवादी, इन्हें हम बनाते हैं। ये सम्बन्ध है जो हम स्वरों को देते हैं। स्वरों के कुछ सम्बन्ध दिये हुए भी होते हैं—सवांद का सम्बन्ध तो स्वरों कि अपनी प्रकृति में अनायास दृष्ट होता है। पर वादी अनुवादी, ये सम्बन्ध ये दिये न जायें तो स्वयंभू नहीं होते। और देते इनको हम यथेष्ट हैं—अपनी इच्छा, कल्पना से। पर इनका 'देना' किसी को नाम देने की तरह नहीं है कि एक बार दे दिया। इनका देना एक कर्म है, एक चेष्टा है—एक उद्यमविशेष। वादी वह स्वर होता है जिसे हम जाति-विशेष (या राग-विशेष) में प्रधान ठहराते हैं, संवादी उससे एक विशेष अन्तराल पर एक विशेष समरसभाव के साथ स्वयं स्थित होता है (आज राग में सदा ऐसा नहीं होता, पर यह बात और है)। अनुवादी, वादी के साथ-साथ सजाये गये वे स्वर होते हैं जिन्हें हम प्रयोग में गौण रखते हैं। विवादी, संवादी का प्रतीप होता है, स्वभाव से, प्रकृति-प्रदत्त, विरोधी स्वर। हर जाति में ये वादी, अनुवादी ठहराये जाते हैं, जिन्हें प्रयोग में ऐसा 'रखना' होता है नहीं तो जाति भी नहीं रहेगी दत्तिल ने इनके ज्ञान का सम्बन्ध ही इनके प्रयोग से रखा है—'स्वराश्चतुर्विधानेन जानीयात् स्वरयोगवित' (दत्तिलम् १९)यों वादी, संवादी...साध्य हैं, सिद्ध नहीं। जाति-लक्षण की नियमविधि या व्याकरण—इनकी धारणा को अपना आधार मान कर चलता है। आगे बढ़ाता है—वैभव और वैपुल्य देता है, विदग्धभाव देता है, बुनावट की रूप-समृद्धि देता है।

यह नियमविधि बड़ी सरल सी भी है। दो विधियाँ (जातिलक्षण हैं,) बहुत्व और अल्पत्व—विशेष स्वरों को बढ़ाना घटाना—विधि का रूप जितना सामान्य है उतना ही व्यापक है, किसी भी निर्मिति का मानो मूलमन्त्र है। और भी विधियाँ हैं: स्वर-संचार विशेष का पहला और अन्तिम स्वर (ग्रह-न्यास) विशेष स्वर-संचार लम्बा हो तो बीच के फिकरे का वह स्वर, जहाँ फिकरा आकर ठहरेगा (अपन्यास);किसी रूप-योजना में सप्तक के एक या दो स्वरों को छोड़ देना। इनके अलावा एक और विधि या लक्षण है जिसे 'मौलिक' भी कह सकते हैं अंश। अंश वादी को भी कहते थे और उस स्वर को भी जिसे आज आधारश्रुति या 'सा' कहते हैं किसी भी स्वर-सप्तक विशेष का 'मूल'। गान्धर्व का सप्तक—जिसे स्वरमण्डल कहा जाता था—वह, बँधा हुआ था। इस



अर्थ में कि स्वरों के स्थान, उनके बीच के अन्तराल नियत थे। भिन्न 'थाटों' की प्राप्ति के लिए भिन्न स्वरों को आधार या 'मूल' स्वर बनाना आवश्यक होता था। और उसे प्राधान्य देना भी, नहीं तो थाट ही बिगड़ सकता था; इसीलिए अंश और वादी को एक कहा गया है। और भी 'लक्षण' थे जिन्हें अपेक्षया गौण रखा गया है। पर जो किसी भी रूप-विशेष को स्वभाव-विशेष देने के लिए आवश्यक होते हैं: संगति (दो स्वरों के बीच गति को उभारना), संचार (स्वरगुच्छ के विन्यास विशेष को उभारना) और अन्तर्मार्ग, जिसे आज के शब्दों में 'चलन' कह सकते हैं—रूप विशेष की पूरी बुनावट को दी गई विशेष गति। ये गौण नियम या लक्षण साफ ही विशेष-परक हैं जबकि पहले आये लक्षण, जिन्हें 'दशक जाति लक्षण' कहा गया है, वे सामान्यधर्मी हैं। वे ही आधारगत लक्षण भी हैं।

हम देख सकते हैं कि इन लक्षणें में सम्भावना का ऐसा आकाश है जहाँ रूप का असीम विस्तार हो सकता है। विशेष विन्यासों के अनगिनत द्वार खुलते हैं। यह वास्तव में किधर बढ़ते हैं यह प्रयोग पर, प्रयोग परम्परा पर, प्रयोग के आदर्शों पर निर्भर है। जाति-लक्षण ही बाद में राग-लक्षण बन गये—हाँ, कुछ बहुत लक्षणीय परिवर्तन भी उनमें आते गये, पर मूलतत्त्व वही रहा और आज भी है। यह मूलतत्त्व इतना व्यापक है कि इसके नये क्षितिज नये आकाश खुलते चले जा सकते हैं, और ऐसा ही राग के इतिहास में हुआ भी है।

हम यह भी देख सकते हैं कि जाति-लक्षणों को कसे या बाँधे बिना, उन्हें घेर या परिधि दिये बिना रूप साधना ही नहीं हो सकती, क्योंकि रूप-साधना विशेष की ही होती है, सामान्य की नहीं। और तभी हम यह भी देखते हैं कि बन्धन का या परिधिकरण का पहला चरण हमें जातियों में ही मिलता है। विशेष जाति के बन्धनों में बड़ा विशेष कसाव है—बहुत बाँधकर परिधियाँ बनायी गई हैं। उनके संकीर्ण रूप को देखते हुए, विचार-प्रज्ञा की वह उपलब्धि जिसने दशलक्षण को जन्म दिया बड़ा चमत्कार जगाती है। यह प्रज्ञा रूप-विशेष के प्रपंच से ऊपर उठकर रूपतत्त्व और उसके विस्तारधर्म को पकड़ती दीखती है।

यह प्रज्ञा हमें गान्धर्वशास्त्र और गान्धर्वचिन्तन में ही नहीं, ताण्डव में भी मिलती है। एक अर्थ में और भी स्पष्ट रूप से मिलती। पर साथ ही हमारी दृष्टि को वहाँ यह बात भी चमत्कृत करती है कि गान्धर्वशास्त्र और ताण्डवशास्त्र परस्पर-भिन्न शास्त्र हैं। एक दूसरे को देखकर नहीं बने हैं। इन दोनों के अलावा भी विधाएँ हैं जहाँ इसी प्रज्ञा का आत्मबोध के साथ प्रकाश पाते हैं—लक्षणशास्त्र के रूप में प्रकाश। छन्दशास्त्र को लीजिए जो एक अक्षर के छन्द से लेकर असंख्य आकृतियों की कल्पना का रूप लेता है। फिर तालशास्त्र का लीजिए। गान्धर्व की अपनी ताल थी। पर गान्धर्व-भिन्न तालों का संसार उद्भूत होने लगा था, जिसका लक्षणशास्त्र भी बन गया था। यह लक्षणशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत है, और उसमें आज की तरह अवनद्ध वाद्यों पर ताल की ताल के बोलों के आधार पर एक 'तालिपि' की उद्भावना है-ताल के स्वरूप की दिशा भी कुछ वैसी है जैसी आज की आकृतियों की—बढ़त प्रधान। वहाँ भी प्रज्ञा आकृतियों के एक समूचे संसार की सम्भावना जगाने की ओर झुकी दिखती है।

मुझे लगता है कि ताण्डवशास्त्र में यह प्रज्ञा जैसी व्याकृति या विशलेषण के साथ स्फुट होती है,

उससे हम गान्धर्व से राग की ओर बढ़ती गति की मुद्रा की एक अच्छी, सुथरी सी फलक पा सकते हैं। संगीत की तरह नृत्य की कोई वैदिक परम्परा नहीं थी। साम जैसा कोई रूप नहीं था। ताण्डव अपने रूप-वैभव और स्वतन्त्र, भव्य प्रकृति के साथ और अपने निखरे शास्त्र-बोध के साथ एक नयी अपूर्व-विधा है जो उत्तर-वैदिक काल में जन्म लेती है। प्रेरणा का बीज स्पष्ट ही शैव है—ताण्डव शिव का नृत्य है शायद नृत्य का पहला ऐसा प्रकार भी है जिसे 'स्वयंप्रतिष्ठ' कहा जा सके। चीन में भी उच्चांग नृत्य का उद्भव प्राचीन जान पड़ता है। पर वहाँ नृत्यशास्त्र के उद्भव की सूचना शायद नहीं है। ताण्डव के शास्त्र पर आता हूँ। भरत के अनुरोध पर शिव ने तण्डु से कहा, भरत को ताण्डव की विधि बताओ। शिव के ताण्डव-नृत्य में बत्तीस अंगहार थे—बत्तीस अवयवी या नाच के बत्तीस परस्पर-भिन्न समग्र रूप। तण्डु ने इनका दो स्तरों में विश्लेषण किया। पहले स्तर में उन्होंने सभी अंगहारों के आकृति-गत आधारों के रूप में १०८ करणों की बात की । ये करण समग्र शरीर की स्थिति, और आनुषंगिक गति के विशेष संस्थान थे। तण्डु ने कहा कि एक से अधिक करणों का समाहार अंगहार होता है। आगे उन्होंने करणों का भी विश्लेषण किया और इसके लिए शरीर के विभिन्न अंगों की 'अणु' मुद्राओं का आकलन किया। इन्हें उन्होंने नृत्त-मातृका का नाम दिया और कहा कि नृत्त-मातृकाओं के समाहार से करण बनते हैं। 'मातृका' शब्द यहाँ लक्षणीय है; 'नृत्त-मातृका' का व्याकरण की शिव-प्रदत्त 'वर्ण-मातृका' का स्पष्ट साम्य है।

अब देखिए। दो से अधिक करणों का समाहार होता है तो ताण्डव में बत्तीस क्या न जाने कितने अंगहार हो सकते हैं। फिर अगर नृत्तमातृका के समाहारों की सम्भावनाओं को भी देखें तो करणों की संख्या भी दौड़ लगायेगी। अभिनव गुप्त स्पष्टोक्ति से स्वीकार करते हैं कि अंगहार में और दूसरे सम्भावित रूपों में अन्तर यही है कि शिव के अंगहारों के प्रयोग में पुण्य की मात्रा अधिक है।

गान्धर्व के जो लक्षण हमने ऊपर देखे उनसे भी स्पष्ट है कि वे भी असंख्य आकृतियों के आधार हो सकते हैं। जातियाँ पर अठारह ही थीं—और ये ही पुण्यमयी थीं। इनके रूप भी परिधि-विशेष में घिरे थे। कहना न होगा कि जाति लक्षण की सामान्य विधि से इन परिधियों की रूपरेखा नहीं बाँधी जा सकती थी। हम पाते हैं कि जातियों के विशेष विवरण में ऐसे निषेध-प्रधान निर्देश हैं जो सम्भावना के दायरे को छोटा करते हैं।

यह भी देखिए कि जाति की धारणा के भीतर भी सम्भावना के मार्गों पर चलने की प्रकट प्रवृत्ति है। 'विकृत' और 'संसर्गज' या सङ्कर जातियों में ऐसी ही यात्रा के चिन्ह हैं। या 'साक्ष्य' कहिए। जाति 'विकृत' और तब होती है जब किसी मूल जाति—इसे 'शुद्ध' कहिये या 'प्रकृति' कहिए—उसके स्वीकृत ग्रह, न्यास, अपन्यास या ऐसे ही किसी लक्षण को बदल दिया जाये। जाति में 'विकृति' के बदलाव बाँध दिये गये कि अमुक सम्भावनाएँ ही अपनायी जा सकती हैं, नहीं तो पंगत-बाहर मानी जायेगी। संकर के साथ भी यही बात है। भिन्न जातियों के कुछ ही संसर्ग-'सवर्ण' हैं।

पर 'विकृति' और संसर्ग का द्वार खुला हो तो दूर-दूर भी ले जा सकता है। राग का इतिहास इसी यात्रा का इतिहास है। यात्रा की सूचना हमें गान्धर्वशास्त्र में ही मिल जाती है, जहाँ ये बोध स्पष्ट



है कि जाति-बाहर भी विकृति-और-संसर्ग-सम्भूत रूप-संचार सम्भव की नहीं उपलब्ध था। दत्तिल इन्हें 'लोक' के रूप कहते हैं—ध्वनि यह भी है कि जातियों की तरह ये अलौकिक और पुण्यमय नहीं हैं। साथ ही दत्तिल यह भी कहते हैं कि ये लोक-स्थित रूप जाति में भी स्थित हैं—उसी रूप-कल्पना से उनको भी आँका समझा जा सकता हैं कि संङ्कर रूपों में (जनक) जाति कौन सी है इसका निर्देश किया जा सकता है—रूप-बाहुल्य के आधार पर (जिसका रूप अधिक झलके वही 'जनक' जाति है)। और यों हम देख सकते हैं कि लोक में जो कुछ भी गया जाता है, वह जाति में 'स्थित' है (दत्तिलम् ९६-९७)। दत्तिल 'राग' का नाम नहीं लेते। नाट्यशास्त्र में दत्तिल के ही 'संङ्कर' के अर्थ में 'मिश्रगेयों' की बात है (अभिनव गुप्त के पाठ में तो है ही) और उसका भी यही आशय है। साथ ही नाट्यशास्त्र में रागों का उल्लेख भी है। ग्रामरागों के नाम आये हैं और उनका नाट्य में विनियोग। संगीतशास्त्र इन ग्रामरागों को सबसे पुराने राग कहता है, और गान्धर्व से निकटतम—इसीलिए इन्हें गान्धर्वकल्प (गान्धर्व-जैसा) भी कहा गया है। ग्रामरागों से जो राग की इतिहास-यात्रा बनती हैं उसके कई पड़ाव शास्त्र ग्रन्थों में ही गिनाये गये हैं: ग्रामराग से भाषा उससे अन्तरभाषा...। इस ब्यौरे में यहाँ नहीं जाऊँगा। (पाठक चाहें तो संगीतरत्नाकर पर अपने जिस लेख का मैंने ऊपर उल्लेख किया है, उसे देख सकते हैं)। परिवर्तन के 'मर्म' को अपनी तरह से उभारने की चेष्टा करूँगा।

पर पहले एक टिप्पणी गान्धर्व के काल पर। मैंने ऊपर गान्धर्व का सम्बन्ध एक प्रज्ञा-विशेष से जोड़ने की चेष्टा की—यह दिखाते हुए कि गान्धर्व ही अकेला इस प्रज्ञा की प्रसूति नहीं था, उसके और भी सहोदर थे। जिनमें शायद ताण्डव को प्रधान कह सकते हैं। शिल्प-कला में यह प्रज्ञा एक विलक्षण शास्त्र-बोध और रूपदृष्टि के साथ उभरती है। लगता है कि स्वयंप्रतिष्ठ शिल्पकला में उसका केन्द्र है। एक दूसरे अर्थ में उसका 'केन्द्र' शैव-सम्प्रदाय भी हैं। इस प्रज्ञा के दो पक्ष उभरते दिखते हैं। एक के लिए नाम सहज ही मिल जायेगा: दिव्य या अलौलिक भावना। दूसरे के लिए नाम जल्दी ही नहीं सूझ रहा, पर उसे हम शायद 'आलाप-धी या— 'आलाप-बुद्धि' कह सकते हैं—हालाँकि, जैसा कह चुका हूँ, 'आलाप' शब्द बाद का है।

इन दोनों बातों को जोड़कर देखें तो एक काल-विशेष या 'युग-विशेष' की बात मन में जागती है, जिसे हम आगम-काल या आगम-युग कह सकते हैं। इसे उत्तर-वैदिक काल भी कहा जा सकता है। पर उत्तर-वैदिक कहने से इसका वेद-सम्बन्ध तो उभरता है पर वेद—'असम्बन्ध' नहीं उभरता। परम्परा ही में इस युग के धर्म-ग्रन्थों को आगम संज्ञा दी गयी है, और यह संज्ञा युग के नामकरण के लिये अधिक उपयुक्त है। आगम दो प्रकार के हैं: वैदिक जैसे शैव और वैष्णव आगम और अवैदिक, जैसे बौद्ध और जैन आगम। 'वैदिक' आगम-मनीषा में हम पुराण को भी अन्तर्भुक्त कर सकते हैं। वैदिक और अवैदिक आगमों में जो गहरा दृष्टि-भेद ही नहीं, दृष्टि-विरोध है, उसमें यहाँ नहीं जाऊँगा। पर वैदिक दृष्टि से देखें तो दो बातें दोनों में सदृश हैं। एक तो यह है कि दोनों 'पौरुषेय' हैं, किसी 'सर्वज्ञ' पुरुष की वाणी चाहे वह 'पुरुष' बुद्ध या महावीर की तरह मनुष्य हो, या शिव की तरह ईश्वर। दूसरी बात जो हमारे लिए और भी पते की है वह यह है कि आगम की वाणी में वर्णानुक्रमी के प्रति वैसा अनुरोध नहीं जैसा वैदिक-परम्परा में है। महत्त्व वहाँ 'अर्थ' को दिया गया है शब्द को नहीं। जैन परम्परा तो यहाँ

तक कह देती है कि महावीर ने उपदेश 'अर्थ' का दिया 'शब्द' का नहीं। इसीलिए हर गणधर ने उसे भिन्न तरह से कहा। यह तो ठीक है कि अर्थमात्र में उपदेश नहीं हो सकता, महावीर ने शब्दों का प्रयोग किया ही होगा—पर व्यंजना यहाँ यही है कि महावीर की वाणी में उनका आशय ही उनका उपदेश था, उनके शब्द (और उन शब्दों की अनुक्रमी) नहीं। आश्चर्य नहीं कि दिगम्बर जैन यह मानते हैं कि महावीर का कोई ऐसा उपदेश ही नहीं बचा है जिन्हें 'उन्हीं के शब्द' कहा जा सके—दूसरे शब्दों में, उनके लिए जैन आगम अनुपलब्ध हैं।

जैन निवृत्ति-मार्गी थे और निवृत्ति-मार्गियों में—बौद्धों में भी-शिल्पकाल के प्रति निषेध और वर्जन दृष्टि ही प्रधान है। इसके विपरीत शिव तो स्वयं नर्तक हैं, गीत-प्रिय हैं। शैव सम्प्रदायों में ताण्डव, गान्धर्व उनकी उपासना के साधन हैं। उन्हीं की सृष्टि भी हैं। इन्हें शिल्प-रूपी 'आगम' भी कहा जा सकता है, उसी अर्थ में जिस अर्थ में 'सामवेद' है। अब यहाँ हम अपने आप से पूछ सकते हैं: शिल्प के क्षेत्र में—या संगीत को ही लीजिए—संगीत में 'आगम' और 'वेद' में अन्तर क्या होगा? बात जब भाषा की है ही नहीं, तो शब्द और अर्थ जैसे भेद की बात ही कैसी बनायी जाये तो कैसे बनेगी?

राग को लीजिए। उसी राग को हम दूसरी स्वरानुक्रमी में कहते ही हैं। राग वही रहा या नहीं इसकी परख भी करते हैं। जो 'वही' रहता है उसे हम 'अर्थ' कहें तो बात निरर्थक नहीं होगी। बल्कि उसमें तात्पर्य की पकड़ ही होगी। जो बात राग में है, जाति में उसी का बीज था। यों 'साम' अगर 'वेद' है तो 'जाति' आगम। जाति का रूप भी साम से भिन्न था। प्रश्न होगा उसका उद्भव कहाँ से, हुआ? ऊपर कह आया हूँ कि परम्परा उसे सामोद्भूत कहती है, पर यह बात बनती नहीं। फिर उसके उद्भव के स्रोत कहाँ ढूँढें?

आगम धर्म का एक प्रधान स्रोत लोक में भी देखा गया है कि कुछ जातियों के नाम में ही ध्वनित हैं। एक जाति है 'आन्ध्री'—'आन्ध्र से' या 'आन्ध्र की'। तीन जातियाँ हैं जिनके साथ 'उदीच्यवा' शब्द जुड़ा हुआ है—षड्जोदीच्यवा, गान्धारोदीच्यवा और मध्यमोदीच्यवा। 'उदीच्यवा' का अर्थ है 'उत्तर की'। ध्वनि यहाँ भी देशविशेष से सम्बन्ध की बन पड़ती है। यह तो सच है कि ये इंगित हमें ठोस या मांसल कुछ नहीं देते जो मुट्ठी में आये। पर वैसी 'पकड़' की तो यहाँ आशा भी नहीं करनी चाहिए। साक्ष्य इस बात का भी मिल जाता है—प्राचीन वैदिक साहित्य में ही मिल जाता है कि वैदिक लोगों में ही ऐसे भी संगीत का प्रचार था जो साम-भिन्न था। एक दृष्टान्त लूँगा। जैमिनीय ब्राह्मण से लूँगा, जिसकी प्राचीनता की चर्चा ऊपर कर आया हूँ। नौवीं-दसवीं सदी ईस्वीपूर्व का ग्रन्थ है। इसके द्वितीय काण्ड के ६९वें व ७०वें अनुवाक में एक ऐसी देखने वाली बात आयी है जिसकी ओर संगीत विद्यार्थियों का ध्यान विशेष गया नहीं लगता है। दो प्रकार के संगीत की चर्चा है। एक वह जो यज्ञ मे प्रयुक्त होता था—साम। इसे प्रजापति की सेना कहा है। दूसरा वह जो यज्ञ-बाहर था—लौकिक। इसे मृत्यु की सेना कहा है: तद् यद् यज्ञे स्तूयते यच् छस्य यत् प्रचर्यते सा प्रजापतेस्सेनास। अथ यद् वीणायां गीय यन् नृत्यते यद् वृथाचर्यते सा मृत्योस्सेनास। लक्षणीय है कि जिस वीणा पर मृत्यु सेना गाती है, उस वीणा को यहाँ सप्ततन्त्री वीणा कहा गया है—सप्त वीणायै तन्त्रयः। गान्धर्व की वीणा भी सप्ततन्त्री थी। यज्ञ के महाव्रत



नामक अनुष्ठान में भी वीणा के साथ गाने वालों का उल्लेख मिलता है। इन्हें वीणागाथिन् कहा गया है। इनका संगीत लौकिक था। छान्दोग्योपनिषद् में एक उक्ति आयी है जिससे लगता है कि वीणा पर गाने वाले इन संगीतकारों के लिए जीविकोपर्जन का साधन भी संगीत था, ये धन के लिए गाते थे। यह भी कहा गया है कि इनके संगीत का सम्बन्ध मनुष्य की इच्छाओं से (लौकिक कामनाओं से) है: स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति। तद्य इमे वीणायां गायन्येतं ते गायन्ति तस्माते धनसनयः (छान्दोग्य १, ७, ६)।

वैदिक काल के इस लौकिक मृत्यु-स्पष्ट संगीत में हम गान्धर्व के अलौलिक अमृत का सूत्र देखें तो 'अतिदृष्टि' नहीं होगी। यह भी स्मरणीय है कि 'अशरीर' साम को पंगत बाहर सा माना गया है। कारण शायद यह रहा हो कि उस पर लोक का प्रभाव था। शायद उसमें आलाप की प्रवृत्ति भी उभरी हो और तभी शायद गान्धर्व परम्परा अपना सम्बन्ध साम से जोड़ती है। पर यह तो उत्प्रेक्षा बात है। साक्ष्य की व्यंजना का ही सहारा हो सकती हैं। अधिक नहीं।

आगम का समय उपनिषद् के बाद आता है। और वैदिक आगमों में निवृत्ति मार्ग के प्रति प्रतिक्रिया भी देखी जा सकती है। इन बातों का ध्यान में रखें तो मैं समझता हूँ कि गान्धर्व का बुद्ध के पश्चात् और शुंग काल (दूसरी सदी ईस्वी पूर्व) के पहले रखना अयुक्त नहीं होगा।

अब राग पर आता हूँ। उसके पूर्वरंग तक आते-आते ही कहानी लम्बी हो गयी है। अब आगे के वृत्तान्त में मोटी-मोटी बातों को ही लूँगा।

पूर्वरंग की बात आयी है तो नाट्यशास्त्र मे उभरते एक महत्त्व के मर्म का पहले उद्घाटन करता हूँ। वैसे इसके संकेत अब तक की बातों में आते रहे हैं पर बात पूरी नहीं उभरी है। कह आया हूँ कि नाट्य गान्धर्व और ताण्डव का परवर्ती है अपनी कला दृष्टि में भी उनसे भिन्न है। जैसाकि भरत नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही कहते हैं, नाट्य का आधार लोक का अनुकरण है। भरत इस अनुकरण को नाट्यधर्मी भी कहते हैं। अभिनव के विचार से इसका अर्थ यह है कि नाट्य लोक का मंच पर अपनी तरह से प्रस्तुत करता है। वह लोक की नकल नहीं हैं लोक का 'अनुव्यवसाय' है। उसकी पुनर्रचना है। शब्द अभिनव का ही है। इन बातों से स्पष्ट है कि नाट्य का कलातत्त्व गान्धर्व और ताण्डव से भिन्न है। इन्हें हम अभिनव के ही शब्दों में 'स्वयंप्रतिष्ठ' कह आये हैं। इनमें लोक का किसी भी तरह का अनुकरण नहीं था।

कलाओं के भीतर के इस आधारगत भेद से भरत अवगत थे। उन्होंने इस पर विमर्श भी किया है। ताण्डव के प्रसंग में ऊपर कहा आया हूँ कि शिव के कहने पर तण्डु ने यह नृत्य भरत को सिखाया। शिव ने भरत को ताण्डव इसलिए सिखाया था कि भरत अपने नाट्य में इसका समावेश कर लें। पर यहाँ एक गम्भीर, मूलभूत प्रश्न उठा। इन ऋषियों ने पूछा, नाट्य में अभिनेय अर्थ होते हैं और उनकी अभिव्यक्ति के लिए जानकारों ने अभिनय की सृष्टि की है पर ताण्डव तो बिल्कुल अलग है, इसका किसी अर्थ (लोक-विषय) से सम्बन्ध नहीं, फिर नाट्य से मेल क्या? भरत इस बात को स्वीकार करते हैं पर नाट्य से ताण्डव का कैसा मेल था यहाँ इस सन्दर्भ में भरत इस प्रश्न का कोई प्रश्नाकुल उत्तर नहीं देते। हम उनकी ओर से कह सकते हैं कि भरत के लिए ऐसा कोई शिल्प नहीं था जिसका नाट्य के लिए समीचीन रूपान्तर नहीं किया

जा सकता था। नाट्यशास्त्र की एक मूल प्रेरणा ही यही है। ऋषियों ने यह भी पूछाः ताण्डव की क्यों सृष्टि की गयी, उसका भाव क्या? (दूसरे शब्दों में उसकी 'आत्मा' क्या है? उसके सौन्दर्य का तत्त्व क्या है?) नाट्य की आत्मा भरत के लिए 'रस' था। ताण्डव के लिए वे बिलकुल भिन्न शब्द का प्रयोग करते हैं—कहते हैं वह अपने बाहर किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं करता पर अपने आप ही में शोभा की सृष्टि करता है। 'शोभा' का कोई विमर्श वे नहीं करते, जैसाकि 'रस' का करते हैं। पर अभिनव गुप्त में विमर्श का एक सूत्र है, जो अवधान के योग्य है। इस विमर्श में 'शोभा' एक स्वतन्त्र रंजनतत्त्व के रूप में उभरता है, जो 'रस' की तरह स्थायीभाव, अनुभाव, विभाग, संचारी की अपेक्षा नहीं रखता। विमर्श सरसरी सा है और उसे बाद के चिन्तन में आगे नहीं बढ़ाया गया—पर रस के एक सार्थक विकल्प रूप में उसे देखा और आगे बढ़ाया जा सकता है। 'शोभा' का सम्बन्ध स्वयंप्रतिष्ठ कलाओं से है, जबकि 'रस' का अनुव्यवसायधर्मी कलाओं से। भरत के नाट्य में संगीत का प्रयोग जम कर होता था। पर उपरंजन के रूप में होता था—नाट्य-वृत्तान्त की अभिनयमयी भावलीला को सहारा देने के लिए। नाट्य में जिस संगीत का प्रयोग होता था उसे 'गान' कहा गया है—भरत के लिए इसमें स्वर ताल के विपरीत पद का प्राधान्य था—सार्थक शब्दों का। गान गान्धर्व का ही रूपान्तर था—इसीलिए भरत में गान्धर्व का विशद लक्षण है। 'गान' के रूपों में राग भी था (अभिनव तो यही समझते है) पर नाट्य में राग की अपनी स्वयंप्रतिष्ठ सत्ता क्षीण, विलीन सी ही हो जाती होगी। हाँ, हम यह कह सकते हैं ऐसे नाट्यधर्मी प्रयोग से रागों में नयी उद्भावना, नये रूपों का भी जन्म हुआ होगा।

जो भी हो, हमारे लिए राग संगीत के स्वतन्त्र इतिहास का अगला पड़ाव नाट्यशास्त्र के कुछ सदियों बाद का है। साक्ष्य बृहद्देशी का है जिसकी चर्चा पहले भी कर सकता हूँ। बृहद्देशी कब का ग्रन्थ है? सातवी-आठवीं सदी में रखा जाता है, पर मुझे लगता है कि और भी पुराना है—गुप्त युग का भी हो सकता है। तिथि-विचार में नहीं जाऊँगा, पर एक बात बृहद्देशी से स्पष्ट हैः ग्रन्थकार मतंग राग-सम्बन्धी एक लम्बी विचारधारा से जुड़े थे और उसी में अपने कथन को रखते हैं। इस विचार-धारा का आरम्भ गुप्तकाल से काफी पहले का ही ठहरता जान पड़ता है।

पहली ही बात जो मतंग में दिखायी देती है वह यह है कि उनका विवेच्य विषय 'देशी' है। राग को मतंग 'देशी' संगीत की कोटि में रखते हैं। 'देशी' से उनका क्या तात्पर्य है, उस पर अभी आता हूँ। पर एक बात बृहद्देशी के आरम्भ में ही लक्षणीय है। 'देशी' शब्द का पहला ही सम्बन्ध वे देशी भाषा, से जोड़ते हैं। क्यों ऐसा करते हैं, इस पर उनके ग्रन्थ में कोई चर्चा नहीं। पर तत्कालीन संस्कृति में एक 'वृहत्' संकेत है, जिसकी मैं चर्चा करना चाहूँगा। संकेत वृहत् इस अर्थ में है कि पूरी एक धारा के साथ मतंग के प्रयास को और रागसंगीत को जोड़ता है।

व्याकरण की परम्परा में 'भाषा' का प्रयोग पाणिनी ने संस्कृत के लिए किया है—उनके लिए यह 'बोली' थी, बोलचाल की भाषा; उसी अर्थ में जिस अर्थ में तुलसीदास ने 'भाखा' का प्रयोग किया है। पर पतञ्जलि तक 'भाषा' 'संस्कृत' का—परिनिष्ठित भाषा का—रूप ले चुकी है। संस्कृत-भिन्न बोलियों को पतञ्जलि 'अपभ्रष्ट' कहते हैं। उनमें अर्थ तो मानते हैं, पर उन्हें संस्कृत का विकृत रूप मानते हैं—'बिगड़े' के अर्थ में 'विकृत,' उस अर्थ में 'विकृत', उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में 'विकृत' जाति को 'विकृत' कहा गया है— रूपान्तर मात्र। पतञ्जलि कहते हैं कि



शिष्ट जनों को संस्कृत का ही प्रयोग करना चाहिए। साथ ही एक पते की बात और कहते है; कहते हैं कि संस्कृत के प्रयोग में ही धर्म है।

पर पतञ्जलि के कुछ बाद ही और संस्कृत का प्रयोग और समादर करने वाली 'शिष्ट' परम्परा में ही हम प्राकृत और अपभ्रंश का भी समादर पाते हैं। इनमें रचे गये काव्य को कई शिष्ट सहृदय संस्कृत से भी रसमय ठहराते थे। इस बात से हम सब परिचित हैं, इसलिए ब्यौरे में जाने की जरूरत नहीं। ध्यातव्य यहाँ यह है कि प्राकृत—और कुछ बाद में अपभ्रंश का—प्रयोग ही शिष्ट-स्वीकृत नहीं हो गया था, इनके व्याकरण भी रचे जाने लगे थे। प्राकृत का सबसे पहला व्याकरण वररूचि के नाम पर चलता है, जिनकी पैशाची प्राकृत में रची गई वड्डकहा (वृहत्कथा), आज तक अपने विभिन्न रूपों में लोकप्रिय है (मूल लुप्त हो गया है)। इन व्याकरणों में अपभ्रंश का भी लक्षण है। अपभ्रंश को प्राकृत का रूपान्तर माना गया है। 'देशी' को भाषा का वह रूप माना जाता था जो विभिन्न देशों में प्रयुक्त होती थी—सचमुच ही 'बोली' थी—पर जिसका कोई व्याकरण नहीं था। पर देशी ही अपभ्रंश और प्राकृत का आधार थी। हम यों भी कह सकते हैं कि व्याकरण नहीं था, इसीलिए वे बोलियाँ देशी थीं। हम पाते हैं कि प्राकृत और अपभ्रंश, जिनका व्याकरण था, ये निरी बोलियाँ भी नहीं रही थीं—देश विशेष के घेरे से निकल कर सर्वजन-प्रयोक्तव्य हो गयी थीं। सर्वजन-प्रयुक्त भी थीं। यही नहीं, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के काव्य में एक परस्पर-भाव के सूत्र गहराते रहे, जहाँ एक दूसरे को प्रभावित, प्रेरित करती थी। यों, देश की प्रेरणा सर्व-देशीय रूप में ढल रही थी।

यहाँ संस्कृत के मर्म में एक नए और व्यापक-बोध का साक्ष्य है। आज के प्रयोग में इसे नया युगबोध भी कह सकते हैं। परिवर्तन के गर्भ में जो प्रेरणा है। (जिसे इसका बीज कहिए) उसे नाम दें तो रसचेतना कह सकते हैं। या सहृदय—बोध। प्रेरणा स्पष्ट ही संवेदना की है। जो 'धर्म' से हट कर 'रस' की ओर झुकती है। इसी बात को यों भी देखा जा सकता हैः संस्कृति की धारा यहाँ 'अलौकिक' से हटकर 'लौकिक' की ओर है। पुरानी शब्दावली में भी रस 'दृष्ट' वस्तु थी, 'अदृष्ट' नहीं। यहाँ देखने की बात यह भी है कि यह बोध भावना का ही नहीं है, बुद्धि तक गहराया है—शास्त्र को भी नयी दिशा देता है। व्याकरण से व्याप्त है और व्याकरण तो हमारे यहाँ का शास्त्रों का शास्त्र है। उसकी, मूर्धन्य परम्परा में जिन भाषाओं को धर्म के नाम त्याज्य कहा गया था और यों अव्यारणीय रखा गया था, उन्हें यह बोध व्याकरण देता है। 'शिष्ट' की परिभाषा ही बदल देता है।

प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणों का शास्त्रीय आधार संस्कृत व्याकरण था। वह भाषा-चिन्तन की एक लम्बी और गहरी परम्परा में प्रतिष्ठित था, प्रौढ़ था। फिर यह भी कि शिष्ट मात्र इसी में पहले शिक्षित होते थे। जिस नये युगबोध की हम बात कर रहे हैं, वह वर्जनधर्मी नहीं था, स्वीकरणधर्मी था। पुराने के आधार पर ही नये की सृष्टि थी। उसे क्रान्ति नहीं कर शायद 'परि'-क्रान्ति कह सकते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरण संस्कृत व्याकरण का ऊह्य ही नहीं रखते, संस्कृत के शब्द-रूपों को भी ऊह्य रखते हैं—प्राकृत और अपभ्रंश के शब्दों का संस्कृत शब्दों की 'विकृति' (रूपान्तर) की प्रक्रिया से समझते, समझाते हैं।

अब हम बृहद्देशी के 'देशी' को लें तो ठीक सन्दर्भ में उसे रख पायेंगे। बृहद्देशी की

शास्त्र-प्रक्रिया को, उसकी रागधारणा का भी परिप्रेक्ष्य दे पायेंगे। बृहद्देशी पर प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरणों की कोई साक्षात् छाया नहीं, उसके प्रत्यय अपने हैं, प्रक्रिया भी अपनी है, पर शास्त्रबोध इन व्याकरणों का सधर्मी है। उसकी राग-धारणा भी 'रस' वैसे ही रंग में रंगी है, जिसकी झाईं हमने काव्य-बोध में देखी। यों बृहद्देशी यह भी दिखाती है कि जिस संस्कृति की हम बात कर रहे हैं उसकी संवेदना काव्य तक ही सीमित नहीं थी, कला के अन्य क्षेत्रों में भी परिक्रान्त थी। युगबोध व्यापक था।

पर बृहद्देशी का अपनापन भी है। 'देशी' के भाषा-सम्बन्ध की ओर इंगित करने के बाद मतंग संगीत पर आते हैं और देशी को देशी-मार्ग इस प्रत्यय-युगल के आधार पर समझते हैं। उनके लिए देशी और मार्ग एक मेरु के दो छोर हैं जिस मेरु को वे 'देशी' की संज्ञा देते हैं। देशी को वे देश विशेषों (प्रदेशों) से और एक सहज लौकिक, मनोरंजन की भावना से भी जोड़ते हैं। पर उनका देश देहात नहीं है, इसलिए 'देशी' को 'फोक' का पर्याय नहीं समझना चाहिए जैसा कि चलन सा हो गया है। मतंग कहते हैं: 'अबला, बाल, गोपाल और क्षितिपाल अपने-अपने देश में अपनी इच्छा से और अनुराग से जो गाते हैं, उसे देशी कहा जाता है (बृहद्देशी, १.४)'। यहाँ रंक ही नहीं राजा भी हैं—देशी का देश समाजशास्त्री का देहात नहीं है, देश विशेष में प्रचलित लोकप्रिय संगीत है। लोक का यह संगीत राग की संरचना का मूल आधार था। मतंग कहते हैं कि इसी को आलाप आदि से 'बाँध' दिया जाये ('निबद्ध' कर दिया जाये) तो वह 'मार्ग' हो जाता है। यह मार्ग ही राग मार्ग है। जो आलाप आदि से बनता है। आलाप के साथ जो 'आदि' का प्रयोग है उसका यहाँ विवरण नहीं, पर इंगित राग के रूप और नियमविधियों की ओर है, जो राग के आधार होते थे। आलाप भी उन नियमों के बन्धन के आधार पर ही खुलता था (जैसा कि अब भी है) मार्ग को यों 'निबद्ध' कहते हुए मतंग देशी को 'अनिबद्ध' कहते हैं। 'अनिबद्ध' से यहाँ तात्पर्य खुलेपन से नहीं, आलाप और नियमविधि के उस बन्धन के अभाव से है जो मार्ग में होता है। देशी वह उपादान है, वह मूल-सामग्री है जिसे मार्ग दिया जाता है जिसके आधार पर आलाप किया जाता है, और सम्भावना का खोलने के लिए जिसे राग के व्याकरण में बाँधा (ढाला) जाता है।

व्याकरण की प्रक्रिया यहाँ गान्धर्व से आहृत थी। इसलिए मतंग में विस्तार से गान्धर्व लक्षण भी मिलता है। राग मार्ग में गान्धर्व का वैसा ही स्थान दिखता है जैसा प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण में संस्कृत का। राग का मर्म-प्रयोजन गान्धर्व से सर्वथा भिन्न था। राग की आत्मा है—इच्छा, प्रीति, काम, जो देशी के लौकिक स्वभाव में निहित है। राग के उद्भव के लिए मतंग कहते हैं, रागञ्जायते इति रागः। इसका प्रयोजन बताते हैं, रञ्जन जो रस का ही पर्याय है। काव्य का भी 'परम प्रयोजन' है। पर यहाँ यह भी लक्षणीय है कि रागमार्ग के केन्द्र में आलाप है, जिसका काव्य में कोई स्थान नहीं। आलाप को यह महत्त्व राग को गान्धर्व से ही नहीं काव्य से भी अलग कर देता है। गान्धर्व में आलाप की सम्भावना है, आलाप का संचार-प्रसार नहीं। आलाप की प्रेरणा 'कामचार' है—स्वेच्छा-विचरण गान्धर्व में जिस का स्पर्शमात्र ही है। उसकी लीला नहीं। लगता है कि गान्धर्व जब रागमार्ग में खुला और राग में आकर राग (काम) से जुड़ा तो उसमें कामचार का



स्पन्द भी बहुमुखी हो गया।

राग के इतिहास का अगला पड़ाव हम संगीत रत्नाकर में देख सकते हैं। जैसा कह आया हूँ। दोनों को 'व्यक्तित्व के उदय' का नाम दिया जा सकता है। मतंग के समय राग के साथ गायन की शैली का—जिसे मतंग गीति कहते हैं—एक विचित्र सा सम्बन्ध था। राग विशेष को शैली विशेष में गाया जाता था। राग और शैली स्वतन्त्र नहीं थे, जैसे आज हैं रत्नाकर में यह स्वातन्त्र्य उभर आता है। वहाँ राग के रूप को शैली से अलग देखा गया है और शैली को अवयवों में—प्रयोग-खण्डों में—बाँटा गया है। विश्लेषण-लब्ध खण्डों को रत्नाकर 'स्थाय' का नाम देता है। ये 'स्थाय' ताण्डव की नृत्त-मातृका की याद दिलाते हैं। 'स्थाय' की धारणा का उद्भव गायकों के सम्प्रदाय में हुआ था। स्थायों के आधार पर गायक एक ही राग को अपनी-अपनी गायकी में ढाल सकते थे।

यों हम पाते हैं कि राग की अपनी एक अलग सत्ता बन गयी थी, जिसे बाद में उसका नादरूप कहा गया और जो शैली से संश्लिष्ट नहीं थी। हम उसे राग का व्यक्ति-रूप भी कह सकते हैं। स्वर-योजना के विन्यास का एक ढाँचा। इसे आलाप से खड़ा करना, जो कि शैली की ही निर्मिति होती है, वह काम गायक का था—गायक 'व्यक्ति' का। अब व्यक्ति गायक अपनी आलाप से अपनी शैली बनाते हुए व्यक्ति राग की अभिव्यक्ति करने लगा। राग के व्यक्ति-रूप को सचमुच व्यक्तियों के रूप में देखते हुए रागों की स्त्री-पुरुष के रूप में कल्पना का उदय भी इसी काल में होता है—१२वीं-१३वीं सदी में (रत्नाकर का काल १३वीं सदी का आरम्भ है)।

अपने इतिहास का यहीं अन्त करता हूँ। बात अधूरी रह गयी है—पर अब आगे केवल विहंगम दृष्टि से बात बनेगी भी नहीं और यों ही बहुत लम्बी हो गयी है। फिर भी दो एक बातों की ओर रुकते भी इंगित करना चाहता हूँ। व्यक्ति— बोध के उदय के साथ राग और आलाप में उसकी अभिव्यक्ति ये केवल 'कामचार' की वस्तु नहीं रह जाते। एक गहराई के भी संधान का उद्भव होता है। शैली की व्यक्तिगत साधना का यही साध्य भी है। साथ ही, शैली की ही साधना के अभिन्न अंग के रूप में 'रागभाव' की धारणा का उदय होता है—राग केवल एक नादरूप, एक स्वर-योजना विशेष नहीं, जिसमें हम इच्छा-कल्पित आलाप के साथ 'खेलें'। उसका एक अन्तरंग भाव है, मर्म है, जिसे दृष्टि-सम्पन्न गायक अपनी तरह से देखता है और उभारता है। राग-व्यक्ति और गायक-व्यक्ति का परस्पर-भाव की रागमार्ग है। यही राग-परम्परा है, जिसमें दोनों बदलते चलते हैं। रत्नाकरोत्तर काल में यह बोध जागता और गहराता दिखता है।

रागभाव की धारणा में राग की जो महिमा उभरती है उसका एक और पक्ष देखिए। पहले यह था कि स्वरों का एक नियत व्यूह अपने नियत स्थान में हमें प्रदत्त है, जैसा हारमोनियम में होता है और उन्हीं से हम जाति के रूपों की रचना करते हैं। राग के उदय के साथ यह बात बदलने लगी थी। रत्नाकर के बाद खुलकर शास्त्र-चिन्तन के साथ उभरती है। पहले १६वीं सदी में पुण्डरीक विट्ठल फिर १८वीं में अहोबल कहते हैं कि स्वर से राग नहीं बनता, राग से स्वर बनता है। ध्वनि के जो भी अन्तराल राग की और रागभाव की अभिव्यक्ति साधे हैं, वे ही स्वर हैं।

स्वर पूर्वप्रदत्त स्थान नहीं हैं जैसाकि पहले के शास्त्री सोचते रहे हैं। कहना न होगा कि यह स्वर-दृष्टि गायकों के व्यक्तिगत प्रयोग की साधना में उभरी। आज के राग-गायन और वादन में यह उह्य है।

बात को अचानक रोक रहा हूँ पर इस विहंगम चेष्टा ने अगर इतिहास की ओर आपके पंखों में कुछ सरसराहट जगा दी हो तो इतना भी बहुत है।